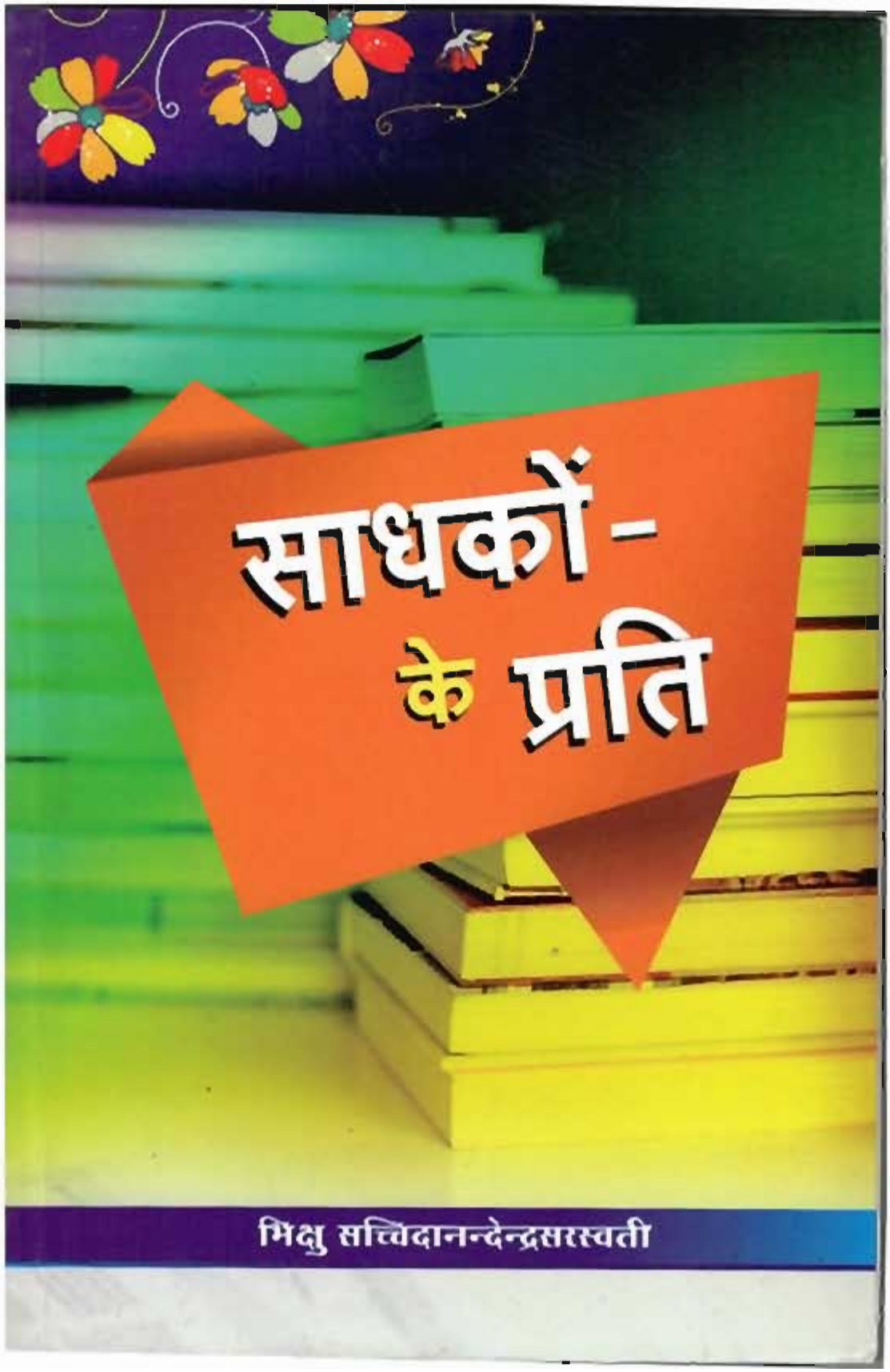
साधकों -
के प्रति
भिक्षु सच्चिदानन्देन्द्रसरस्वती

साधकों के प्रति

भिक्षु सच्चिदानन्देन्द्रसरस्वती

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल कन्नड़ लेखक	:	भिक्षु सच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती www.adhyatmaprakash.org
हिन्दी अनुवादक	:	भिक्षु सुरेश्वरानन्द सरस्वती
प्रकाशक	:	सुगमा प्रकाशन द्वारा–जगदीशचन्द्र सेन, 20, लम्बी गली, रतलाम (म.प्र.) पिन–457001
मोबाइल नं.	:	9584301307
प्रथम संस्करण 2017	:	1200 प्रतियाँ
सहयोग राशि	:	रू. 50/– (पचास रूपये मात्र)
मुद्रक	:	छाजेड़ प्रिन्टरी प्रा.लि., रतलाम (म.प्र.)

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ संख्या
I	प्रस्तावना	i
II	अनुवादक की लेखनी से	v
1	परिव्राजक का धर्म	1
2	वेदान्त-विचार के लिये आवश्यक पूर्व सिद्धता	3
3	अनासक्ति और संन्यास	5
4	ब्राह्मण्य का रक्षण	8
5	निवृत्ति धर्म के लिये तैयारी	10
6	संन्यासाश्रम सार्थक होने की रीति	12
7	वेदान्त-विचार में प्रगति कैसे करें ?	15
8	संन्यास	16
9	संन्यास का तत्व	17
10	संन्यासियों के कर्त्तव्य	19
11	अध्यात्मविद्या	20
12	मन में परिवर्तन लाना	22
13	गुरु में कौनसी भावना होनी चाहिये	24
14	सत्य ही बोलना चाहिये	27
15	सत्संग का रहस्य	31
16	जगत के दुःख निवारणार्थ अब क्या करें	34
17	वेदान्त-विचार	37
18	अध्यापकों के कर्त्तव्य	39
19	संस्कृत सीखने से परम् लाभ	42
20	दम्भ से हानि	44
21	सत्संग	45
22	सम्पूर्ण जीवन ही ईश्वर की पूजा हो जावे	47
23	विवाह का लक्ष्य	51
24	अनुष्ठान	54
25	सात्विक मन	55
26	ज्ञान के लिये साधन	56
27	तर्क का उपयोग	58
28	परमहंसपारिव्राज्य	60
29	आर्जव (सरलता, सादगी)	63

30	सदगुरु में आर्जव - आर्जव की स्तुति	65
31	पढ़ने योग्य पुस्तक	66
32	सदगुरु सेवा	67
33	रामायण और महाभारत	69
34	रामकृष्णहरि	71
35	श्रद्धा	73
36	मन के लिये शान्ति	75
37	वैराग्य का मर्म	76
38	आश्रमवास	78
39	तत्व विचार-साधनानुष्ठान	81
40	भक्ति और ज्ञान	83
41	ब्राह्मण्य	84
42	उपनयन	87
43	भावना की आवश्यकता	89
44	भोग, भय और क्रोध	91
45	संन्यासाश्रम	93
46	यज्ञ, दान, तप	95
47	भगवद्भक्ति	98
48	संन्यासाश्रम	100
49	सर्वत्र भगवद्भावना	102
50	भजन	104
51	ध्यानयोगार्थ पूर्वसिद्धता	107
52	साधना क्रम	108
53	चातुर्मास्य और महालय	109
54	परमहंसपारिव्राज्य	111
55	पतिभक्ति	113
56	संन्यास का तत्व	115
57	जप का मर्म	116
58	अध्यात्म विद्या का कथन किसके लिये है ?	118
59	अब तो समय का सदुपयोग क्यों नहीं करते हो ?	119
60	परमहंस की निष्ठा	120
61	भगवान् से विनय करना	121
62	आत्मा सर्व व्यापक् है	123
63	आत्मैकत्व विद्या में निष्ठा	124

64	ऋजुभाव	125
65	महावाक्य जप	126
66	नित्यसिद्ध मोक्ष	128
67	क्या पारिव्राज्य (शास्त्र) विहित है ?	129
68	भक्ति और अनुभव	131
69	व्यवहार-परमार्थ-अनुभव	132
70	अहंकार-ममकार का त्याग की उत्तम साधन है	134
71	स्त्रियों के लिये अध्यात्म साधन	135
72	मौन कैसे करें	138
73	गौरक्षा	140
74	ब्राह्मण्य का महत्व	144
75	उपनयन और उपाकर्म	146
76	नैष्ठिक ब्रह्मचर्य	147
77	संन्यास को कब, कैसे करना चाहिये	149
78	विविक्तदेशसेवित्वम् (एकान्तवास)	151
79	परमतसहिष्णुता	154
80	पारिव्राज्य	157
81	जनता को सुधारना	159
82	उद्योग की महिमा	161
83	आश्रमसंन्यास	164
84	ब्रह्ममुहूर्त में जग जाना	167
85	अध्यात्मसाधन के द्वारा प्राप्त होने वाला प्रयोजन	169
86	उपन्यास और उपदेश	171
87	गीता का उपयोग किस प्रकार करें	173
88	सात्विक वेषभाषा	176
89	व्यवहार में न चिपकना	179
90	गुरुसेवा का रहस्य	181
91	संन्यासद्वय	184
92	गृहस्थधर्म	186
93	साधक का लक्ष्य	189
94	नामस्मरण और व्यवहार	190
95	व्यसनों से मुक्ति	192
96	विद्यार्थियों के लिए साधन	194

॥ ॐ ॥

प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता परमपूज्य ब्रह्मनिष्ठ स्वामी श्री सच्चिदानन्देन्द्र सरस्वतीजी दक्षिण भारत में 'अभिनव शंकर' के नाम से प्रसिद्ध है । पूज्य स्वामीजी का जन्म कर्नाटक प्रान्त में ई.स. 1880 में हुआ था, ई.स.1975 में वे ब्रह्मलीन हुए । इस युग में वे 'शुद्ध शांकरवेदान्त प्रक्रिया' के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं । भगवान् भाष्यकार के प्रति उनकी अद्‌भुत निष्ठा थी ।

शांकर वेदान्ताध्ययन में उनका प्रवेश आचार्य की जन्मस्थली कालड़ी में श्रृंगेरी मठ के तत्कालीन शंकराचार्य परमपूज्य स्वामी श्री शिवाभिनव नृसिंह भारती के द्वारा कराया गया । प्रस्थानत्रय शांकर भाष्य का अध्ययन उन्होंने श्रृंगेरी मठ के विद्वान् श्री विरूपाक्ष शास्त्रीजी तथा स्वामीश्री क्रर्तकोटी महाभागवत (पूज्य ब्रह्मचैतन्य महाराज के शिष्य) के निर्देशन में किया । वेदान्त के एक अद्‌भुत विद्वान श्रीकृष्णास्वामी अय्यर से स्वामीजी बहुत प्रभावित थे । वेदान्त का विचार सार्वत्रिक अनुभव पर आधारित है, यह बात उन्होंने श्री अय्यर से सीखी । साथ ही अवस्थात्रय प्रक्रिया के विषय में उन्हें श्री अय्यर से बहुत कुछ सीखने को मिला।

किसी पूर्व संस्कारवश स्वामी के मन में आचार्य शंकर एवं उनके भाष्य के प्रति अनन्य भक्ति का उदय हो गया था । आचार्य की अव्यक्त प्रेरणा से ही उन्होंने प्रतिदिन भाष्यपारायण का नियम ग्रहण किया । इससे उन्हें भाष्य में एक ही विचार के विषय में भिन्न-भिन्न स्थलों पर जो कुछ कहा गया है, उसका पर्यालोचन करके भाष्यकार के आशय को हृदयंगम करने में बहुत सहायता मिली। उनका यह विश्वास बन गया कि भाष्य का अर्थ स्पष्ट करने के लिए अन्य स्थलों के भाष्य की सहायता लेना ही पर्याप्त है।

आचार्य की कृपा से उनके भाष्य के तात्पर्य को आत्मसात् कर लेने पर स्वामीजी को प्रतीत हुआ कि भाष्य को आधार बनाकर निर्मित विवरण प्रस्थान एवं भामती प्रस्थान के टीकाकार लोग भाष्य के मूल अर्थ से दूर भटक गए हैं । **भाष्यकार के मतानुसार अध्यास ही जीव के संसार का मूल कारण है, यह अध्यास नैसर्गिक और सर्वलोक प्रत्यक्ष । इसकी सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होती और न ही इसका कोई कारण ढूँढा जा सकता है क्योंकि सम्पूर्ण प्रमाण-प्रमेय व्यवहार और कार्य-कारण परम्परा अध्यास के ही अधीन है। अध्यास को ही वेदान्तसम्प्रदायवेत्ता अविद्या इस नाम से कहते हैं । अविद्याकल्पित नामरूप की बीजावस्था ही माया है । परन्तु टीकाकारों की कल्पित प्रक्रिया के अनुसार अध्यास का मूल कारण अविद्या है, उसे वे 'मूलाविद्या' नाम देते हैं । इसे वे प्रमाणों से सिद्ध करते हैं, तथा इसी को माया, अव्यक्त आदि से कहा गया है, ऐसा निरूपण करते हैं । भाष्य का निष्पक्ष एवं सार्वत्रिक अनुभवानुसारी पर्यालोचन करने पर उनकी प्रक्रिया भाष्य से विरुद्ध ही सिद्ध होती है । अन्य भी अनेक विषयों में वे भाष्याशय को न समझकर भ्रान्त प्रक्रिया को ही स्वीकार कर बैठे हैं । टीकाकारों में परस्पर भी अनेक मतभेद हैं, जिससे जिज्ञासु साधक टीकाओं के जाल में फँसकर भाष्यार्थ से वंचित ही रह जाता है।**

शांकर भाष्य का शुद्धार्थ जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत करने के उद्देश्य से उन्होंने अध्यात्म प्रकाश कार्यालय की स्थापना की । मूलाविद्यानिरास, वेदान्त प्रक्रिया प्रत्यभिज्ञा, शुद्धशांकर प्रक्रिया आदि प्रौढ़ ग्रन्थों के द्वारा शांकर मत के नाम से प्रचारित भाष्य विरोधी मतों का खण्डन किया, तथा भाष्यकार के आशय को स्पष्ट किया । उन्होंने संस्कृत, कन्नड़ एवं आंग्ल भाषा में 200 से अधिक वेदान्तविषयक पुस्तकों की रचना करके कार्यालय से प्रकाशित करवाया। 'माण्डूक्यरहस्यविवृतिः' उनकी एक अनुपम रचना है, जिसमें अवस्थात्रय प्रक्रिया का अत्यन्त गम्भीरता से विवेचन किया गया है । कारिका एवं भाष्य के विषय में प्रच्छन्नबौद्धवाद का जो आक्षेप कुछ प्राचीन एवं अर्वाचीन विचारकों द्वारा किया जाता था, उसका अत्यन्त विशदता से युक्तिपूर्वक निरास करना स्वामीजी का एक महान् उपकार है । संसाधनों की कमी होने पर भी स्वामीजी अतिवृद्धावस्था तक ग्रन्थप्रणयन एवं प्रकाशन में तत्पर रहे, आचार्य चरणों में

अनन्य भक्ति ही उनका प्रेरणास्त्रोत रही । स्वामीजी के मतानुसार भाष्यकार के मत का यथार्थ विवरण पूज्यपाद वार्तिककार (श्री सुरेश्वराचार्य) के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है ।

स्वामीजी ने महाराष्ट्र के ब्रह्मज्ञानी परमभक्त सन्त श्री ब्रह्म चैतन्य (गोंदवलेकर) महाराज से मन्त्रदीक्षा प्राप्त की थी । उनके अनुग्रह से स्वामीजी के अन्तस्तल में भक्ति धारा भी प्रवाहित हुई थी, अत: वे केवल तार्किक, रसहीन वेदान्ती नहीं, अपितु ईश्वरभक्त वेदान्ती थे । भाष्य में तत्तस्थलों पर यह स्पष्ट लिखा है कि ईश्वर भक्ति वेदान्तार्थ– अनुभव का प्रधान साधन है ।

प्रस्तुत पुस्तक (साधकों के प्रति) स्वामीजी द्वारा साधकों को उनकी शंकाओं के समाधान के रूप में लिखित पत्रों का संकलन है । प्रधान रूप से संन्यासाश्रम में प्रवेश के इच्छुक साधकों में क्या योग्यता होनी चाहिए, उन्हें क्या सावधानी बरतनी चाहिए, पूर्ण तैयारी के बिना आपात–वैराग्य मात्र से संन्यास ग्रहण करना अनुचित है इस विषय का पूर्ण स्पष्टीकरण इन पत्रों में मिल जाता है। परमहंस संन्यासी अपना जीवन कैसे बिताएं इसका सुन्दर निर्देश इन पत्रों में है । शमदमादिपूर्वक ब्रह्मसंस्थता ही परमहंस का मुख्य धर्म है, अत: उसे प्रणवार्थ (आत्म) चिन्तन, प्रणव जप में निष्ठा रखनी चाहिए । संन्यासी लोगों को अपनी साधना एवं लक्ष्य के स्पष्टीकरणार्थ इन पत्रों को अवश्य पढ़ना चाहिए।

ब्राह्मण अपने ब्राह्मण्य की रक्षा कैसे करे, इस विषय में आज के युगानुसार व्यावहारिक मार्गदर्शन भी इन पत्रों से प्राप्त हो जाता है । ब्राह्मण्य रक्षा से ही वैदिक सनातन धर्म की रक्षा सम्भव है । गृहस्थ में रहकर भी वेदान्तविचार, ज्ञानसाधना कैसे करें, इस पर भी प्रकाश डाला गया है । सत्संग का महत्व, सत्संग से पूर्ण लाभ कैसे प्राप्त करें, सद्गुरू की प्राप्ति कैसे हो, सद्गुरु सेवा कैसे की जाए, मौन का स्वरूप क्या है, इन विषयों का समुचित आकलन इन पत्रों के अध्ययन से मिल जाता है।

स्वामीजी का शास्त्रानुसारी आग्रह है कि अपने वर्णाश्रम धर्म का यथासम्भव पालन, सत्यनिष्ठा एवं आर्जव (सरलता) से किसी साधक के लिए अनिवार्य अर्हता है। हमारी शान्ति बाह्य परिस्थितियों पर नहीं अपितु मन की स्थिति पर आश्रित है, अत: मन को सुधारने का ही प्रयास करना चाहिए । जीवन का व्यवहार एवं अध्यात्मिक

साधना इनको विभक्त करना अनुचित है, हमारा पूरा व्यवहार ही साधनामय बनना चाहिए । जिसने निष्काम कर्मयोग, ईशभक्ति से मन को साध लिया है वही एकान्तसेवन एवं ध्यानयोग का अधिकारी है। साधक को प्राकृतजनों का संग, समाचार–पत्र, पत्रिका आदि का संग त्यागना अत्यावश्यक है ।

स्त्रियाँ अपने गार्हस्थ्य कर्त्तव्यों का पालन करते हुए ईश्वर भक्ति कैसे कर सकती हैं, इसे कुछ पत्रों में सरलता से समझाया गया है। हम भारतवासियों को अपनी वेशभूषा, भाषा, संस्कृति के प्रति गौरव होना चाहिए, संस्कृत सीखने का प्रयास प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए ऐसा स्वामीजी का संदेश है। साधक जनसुधार के प्रयास में न पड़े, बल्कि अपने जीवन को शास्त्रीय एवं साधनामय बनाने का ही प्रयास करे । उसके अन्दर ईश्वर भक्ति, ज्ञान दृढ़ होंगे तो ईश्वर उससे स्वत: जनसुधार करवा लेगा । इस प्रकार इन पत्रों के अध्ययन से सभी लोगों को अपने जीवन को ईश्वर प्राप्ति रूपी लक्ष्य की ओर अग्रसर करने के लिए मार्गदर्शन मिल सकता है।

ये पत्र मूल रूप से कन्नड़ भाषा में लिखे गये थे । इनका हिन्दी में अनुवाद हमारे पुराने परिचित स्वामी सुरेश्वरानन्दजी ने किया है । स्वामीजी विरक्त परिव्राजक हैं । पैदल ही भ्रमण करते हैं, धन के सम्पर्क से दूर रहते हैं । पूज्य स्वामी श्री सच्चिदानन्देन्द्रजी के प्रति इनकी दृढ़ श्रद्धा है। स्वामीजी के कन्नड़ साहित्य का लाभ हिन्दी भाषी साधकों को भी मिले इसके लिए ये प्रयासरत हैं । बड़े परिश्रम से इन्होंने इन पत्रों का अनुवाद किया है। कन्नड़ भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण मैं यह तो नहीं कह सकता कि यह अनुवाद शब्दश: पूर्णरूपेण त्रुटिरहित है अथवा नहीं, पर ऐसा अनुमान है कि स्वामीजी के पत्रों का भाव सम्यक् रूप से अनुवाद में आ गया होगा । हिन्दीभाषी साधकों के मार्गदर्शन में यह अनुवाद सहायक बनेगा, ऐसी हमें आशा है। इति शिवम् ।

– स्वामी आशुतोष भारती

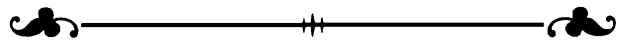

अनुवादक की लेखनी से

परमपूज्य स्वामी सच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती वेदान्तप्रपञ्चके अद्वितीय विद्वान थे मेरे गुरुदेव परमपूज्य स्वामी रामानन्दसरस्वतीजी हम लोगों को वेदान्त (प्रस्थानत्रय–शांकरभाष्य) अध्यापन करते समय पूज्य सच्चिदानन्देन्द्रजी क आदरपूर्वक उल्लेख यदा–कदा किया करते थे ।

पूज्य स्वामीजी द्वारा कन्नड़ भाषा में लिखित 337 पत्रों को अध्यात्म प्रकाश कार्यालय संस्था ने सन् 2011 में प्रकाशित किया था[*1]। कार्यालय से अनुमति लेकर कुछ चुनिन्दा पत्रों को हिन्दी भाषा में यथामति अनुवाद किया है । स्पष्टाश कहीं–कहीं टिप्पणी भी लिखी है । प्रधान रूप से संन्यासाश्रम सम्बन्धित लेख औ उसके साथ–साथ अन्य आर्त जिज्ञासुजन सम्बन्धी पत्रों को भी यहाँ यथाशक्ति समन्वित किया है।

उत्तर देते समय स्वामीजी द्वारा दर्शाया गया श्रद्धा, कारुण्य, औदार्य, सटीक निष्कर्ष एवं निष्ठा ग्रहण करने योग्य है । किसी भी प्रश्न को गौण न करते हुए श्रोत् गौरव को बरकरार रखते हुए सांगोपांगरीति से विनय–विद्वता से ओतप्रोत होकर स्नेह निष्ठुर निश्चय से समाधान सुझाने का पूज्य स्वामीजी का हृदय कौशल स्तवनीय है । प्रत्येक जिज्ञासु को इन सभी लेखों को अनवरत स्वाध्यायपूर्वक मनन करते रहना चाहिए ।

पुस्तक प्रकाशन कार्य में अनेक सन्त–महात्मा और भक्तगण प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग प्रदान किया है । सभी को नारायण स्मरणपूर्वक धन्यवाद समर्पित करता हूँ।

महाशिवरात्रि
24–02–2017

श्री गुरुचरणस्मरणावलम्बी
भिक्षु सुरेश्वरानन्द सरस्वती

1. visit : www.adhyatmapraksha.org

1-परिव्राजक का धर्म (दिसम्बर-1954)

लेखक-स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

संन्यासी का मुख्य धर्म क्या है ? स्नान-शौच-भिक्षादि में कितनी हद तक नियम पालन करना चाहिए ? अनेक लोगों का कहना है कि संन्यासियों को दण्डतर्पणादि सहित और भी कुछ जपकर्म का विधान है । देवतार्चनादि भी है, ऐसा कुछ लोगों का कहना है । नहीं है, ऐसा भी कुछ लोगों का कथन है । इस प्रकार अनेक अभिप्राय व्यक्त करते हैं । आचार भी भिन्न-भिन्न रूप में देखने को मिलता है । ''इन विषयों में कैसे बर्ताव करना चाहिए ? कृपा करके लिखिए,'' इस प्रकार आपके द्वारा लिखित पत्र प्राप्त हुआ है ।

ऐसे विचारों की जानकारी पत्र-मुख से प्राप्त करने की अपेक्षा आमने-सामने चर्चा करके समझना ही अच्छा है । पारमहंस्यमीमांसा[1] इस शिरोलेखयुक्त लेख अध्यात्मप्रकाश के इक्कीसवें सम्पुट से लेकर 136 पृष्ठ से आगे कई भागों में प्रकाशित किया गया है । वहाँ इन विषयों के बारे में कई सूचनाएँ उपलब्ध हैं ।

संन्यास का अर्थ है छोड़ना । समस्त कर्मों को विधिवत् परित्याग करके वेदान्तोपदिष्ट ब्रह्मात्मैक्य को समझने के लिए (और) त्वं पदार्थ के विवेकार्थ परमहंस पारिव्राज्य को प्राप्त करना चाहिए । इस आश्रम का विधान करने वाले शास्त्र में **''तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्''** इसलिए आत्मा अकर्म सम्बन्धी है, ऐसा जानने वाला मुमुक्षु शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा - इनसे युक्त होकर अपने में ही सर्वान्तर प्रत्यगात्मा को देखना चाहिए, ऐसा कथन है । अतः शान्ति

1. संस्कृत भाषा में पुस्तक भी इसी नाम से पूज्य स्वामीजी ने लिखी है ।

दान्त्यादि परिव्राजक का मुख्य धर्म है, ऐसा स्पष्ट हो जाता है ।

जैसे गृहस्थ का यज्ञादि, ब्रह्मचारी का गुरुशुश्रूषा, वानप्रस्थ का कायक्लेशरूप तप असाधारण (धर्म) है, वैसे ही भिक्षु को इन्द्रिय संयम, मन की एकाग्रता और महावाक्य के अर्थ को जानने के लिये त्वं पदार्थ के विवेक को बार-बार करना अवश्य कर्त्तव्य है । संन्यासी का नाम ब्रह्मसंस्थ ही है । ब्रह्मसंस्थ का अर्थ है, अन्य सभी व्यापार (कर्म) को छोड़कर प्रणवनिष्ठ हो जाना। प्रणव के अर्थ का विवेचन करना, वह असम्भव होने पर प्रणवध्यान करना परिव्राजक का नियम है, प्रणवध्यान रहित समय में प्रणवजप कर सकते हैं। जैसे अन्य आश्रमवालों को अपना-अपना आश्रम धर्म न करने से प्रत्यवाय है, वैसे ही शमदमादि से युक्त ब्रह्मनिष्ठत्व ही मुमुक्षु परिव्राजक का धर्म होने के कारण उसको छोड़ने पर उसे प्रत्यवाय[2] होता है, ऐसा ब्रह्मसूत्रभाष्य में आचार्य शंकरजी ने लिखा है ।

वेदान्त-विचार और मनोनैर्मल्य के लिए आवश्यक शौचादि भी मुमुक्षु परिव्राजक के लिए अवश्य चाहिए । त्रिदण्डिसंन्यासी लोगों के लिए विहित धर्मों में इस मुख्य धर्म के अविरूद्ध अंशों को अर्थात् स्नानाचमनभिक्षादि नियम मात्र को परिव्राजक को भी स्वीकार करना चाहिए । परन्तु श्रुति-स्मृतियों में विहित अनेक कर्मों को आजकल परमहंस कहलाने वालों द्वारा भी पालन करते हुए देखा जाता है । यह बात अति सोचनीय है, क्योंकि गृहस्थ को परित्याग करके संन्यास धर्म का पालन न करने पर उभयभ्रष्ट[3] होने का अपाय (खतरा) इस आचार में देखा जाता है ।

संन्यासी के लिए काष्ठतप करते हुए कायक्लेश करना तो वानप्रस्थाश्रम में मन लगाने के बराबर है । व्रत-पूजादि को बढ़ाना तो गार्हस्थ्य को लौटने के

---

2. एक प्रकार का दोष । 3. मोक्ष एवम् परलोक दोनों से वंचित हो जाना ।

समान है । यह भी एक प्रकार का आरूढ़पतित्व ही है और अधुनातन कुछ लोग तो केवल गेरु कपड़े[4] पहनने मात्र से साधु- संन्यासी कहलाकर लौकिक वार्तालाप में समय व्यतीत कर रहे हैं। राजकीय विचार में भी हाथ लगा रहे हैं, वेदाध्ययन-वेदान्तश्रद्धा न रखते हए शिखा-यज्ञोपवीत उखाड़-फेंककर मनमाना व्यवहार करने वाले लोग तो विविदिषा-संन्यासी हो ही नहीं सकते हैं । विद्वत्संन्यासी तो किसी भी हालत में वे नहीं हैं । इसलिए यहाँ इस वर्ग के लोगों के बारे में बात उठाने के लिए कारण ही नहीं है न ? इससे अधिक जानकारी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरुजनों से प्राप्त करनी पड़ेगी । मुझे जितनी जानकारी है (तदनुसार) आप्तवाक्य का अर्थ लिखा हूँ । विदित होवे ।

4. काषाय या लाल रंग का वस्त्र ।

***

।। 2-वेदान्त विचार के लिए आवश्यक पूर्व सिद्धता (जून-1953)।।

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पढ़ा । अभिप्राय ज्ञात हुआ । इस बात को जानकर मुझे अतीव हर्ष हुआ कि आपको वेदान्त विचार में अतीव श्रद्धा है। आपके गाँव में तीन-चार लोगों का एकत्रित होकर प्रतिदिन न चूकते हुए दो-तीन घंटा वेदान्त विचारार्थ समय का विनियोग करना और अनेक वेदान्तबोधकों को इकट्ठा करके विचारों का संग्रह करना (आप लोग कर रहे हैं यह बात) भी सन्तोषदायक है ।

परन्तु पूर्वजों के उपदेश को संग्रह करना, उसके बारे में चर्चा करना अथवा उन उपदेशयुक्त पदपद्य की रचना, इतनें मात्र में वेदान्त का पर्यवसान नहीं होना चाहिए । वेदान्तोक्त तत्त्व अभी यहीं मन में अनुभव आने योग्य है । ''इसलिए क्या आप वेदान्त-विचार में प्रगति किये या नहीं ?'' इस विषय को पठन-पाठन एवं चर्चा के लिए विनियुक्त समय के द्वारा मापने का प्रयास न करें ।

इसको तत्त्वानुभवार्थ आपके द्वारा किये गये प्रयास से मापना युक्त है ।

वेदान्ततत्त्व अनुभव में बैठाने के लिए जो साधना जरूर करनी चाहिए, उसको दो विभाग में विभक्त कर सकते हैं । प्रथम हमारे जो कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय है, वे अल्प विषयभोगों की तरफ न जाएँ इसके लिए मन को भगवान् से सम्बन्धित करना अत्यावश्यक है । इसके लिए हमारे प्रतिदिन के कार्यकलाप को सत्य, अहिंसा और परोपकार इत्यादि के द्वारा शुद्धि करके व्यवहार को भगवदाराधना रूप में परिवर्तन करना अत्यावश्यक है । तदनन्तर शास्त्र कथनानुसार पुराण–श्रवण से और बड़ों के उपदेश से भी अपने–अपने चित्त के स्तर के अनुसार स्तोत्र, जप आदि करना आरम्भ करें । निषिद्ध आहार, विहार, भाषा, वेशभूषा इन सबको तत्क्षण से त्याग देना चाहिए । जब मन सदाचार के द्वारा पककर अन्तर्मुख हो जाता है तब अंतरंग साधन जो परमात्मा का ध्यान आदि है, उनमें ही चित्त लगाना रूप अभ्यास का अवलम्बन कर सकते हैं ।

इस प्रकार सद्व्यवहार, सत्कर्म, सच्चिन्तन–इन सबके द्वारा जिनका चित्त निर्मल होकर एकाग्रता को प्राप्त कर लिया हो, वही लोग परमार्थ का बोधशास्त्र, जो वेदान्त है, उसके लिए योग्य अधिकारी हैं । वेदान्त वाग्वैखरी नहीं है । शास्त्रव्याख्यान–कौशल भी नहीं है । वह अपने को ज्ञात प्राणायामादि का प्रदर्शन भी नहीं । **प्रेमपूर्वक परमेश्वर का अपने अन्दर, बाहर, सर्वत्र दर्शनरूप जो आदर सहित अन्वेषण है, वही वेदान्तसाधन का मार्ग है ।** केवल इस प्रकार के साधक को वेदान्तविचार प्रयोजन देता है । जिसके पास एक बीघा जमीन भी नहीं है, उसको व्यवसाय (खेतीबाड़ी) शास्त्र का पाठ किसी काम का नहीं, वाणिज्य शास्त्र का पाठ भी जिसके पास एक कौड़ी (पैसा) भी नहीं है, उसके लिए निरुपयोगी है और जिसके घर में एक मुट्ठी आटा भी नहीं, उसके लिए पाकशास्त्र का पाण्डित्य किसी भी प्रकार की तृप्ति नहीं दे सकता है । उसी प्रकार जिसने चित्तशुद्धि–चित्तैकाग्रता को नहीं प्राप्त किया है और जिसमें

भगवद्भक्ति भी नहीं है उसके लिए वेदान्तग्रन्थ का पठन किसी प्रकार का सत्फल नहीं दे सकता है । इतना ही नहीं इससे उसको मानसिक विक्षेप होकर अशान्ति उत्पन्न होने की सम्भावना ही अधिक है ।

इसलिये आपको वेदान्तविचार से सत्फल प्राप्त करने की इच्छा है तो जो साधन मुमुक्षजन अपनाते हैं, तुरन्त ही उन साधनों का यथायोग्य अवलम्बन करना चाहिए, यही मेरा निश्चित अभिप्राय है । उलटा-सीधा जीवन व्यतीत करने वाले[1] जो उपदेश करते हैं, उन उपदेशों को वेदान्तोपदेश रूप में स्वीकार न करें । कर्म-उपासन-गुरुदेवताभक्ति इनकी निन्दा करने वाले वास्तव में वेदान्ती नहीं हैं । हृदय को सर्वप्रेम के लिए तैयार करने वाला उपदेश ही तात्त्विकवेदान्तोपदेश है । इस बात पर विश्वास करके तत्क्षण से आप परमार्थसाधना के लिए मन को झुकावें, यही मेरी नम्र सूचना है ।

***

3-अनासक्ति और संन्यास (फरवरी-1955)

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

मैं संसार के जंजाल में फँसकर तड़प रहा हूँ । इस संसार समुद्र को पार करने के लिए परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी की सहायता नहीं चाहिए । औरत, बच्चे, परिवार, सगे-सम्बन्धी आदि परमेश्वर की आराधना में अटकाव हैं - इस बात को अनुभव से समझ गया हूँ, परन्तु मेरा एक बच्चा विवाह के लिए व्याकुल हो रहा है । अभी उसको गृहस्थ जीवन का जंजाल समझ में नहीं आ रहा है, बल्कि वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए उत्सुक है । यह भी ईश्वरदया में बाधक है न ? ऐसी शंका काफी समय से मन को सता रही है । कृपा करके शंका निवारण करें । इस प्रकार आपसे लिखित पत्र मुझे पहुँचकर अनेक दिन हो गए। अब उत्तर लिखूँगा । विलम्ब के लिए क्षमा याचना करता हूँ ।

मेरे अभिप्राय में से उचित अंश को ही स्वीकार करिए, शेष परित्याग करें ।

पारिवारिक जीवन ईश्वर–आराधना में रूकावट उत्पन्न करता है, ऐसा समझना गलत है। गृहस्थाश्रम का विधान शास्त्र के द्वारा ही किया गया है । धर्म–अर्थ–काम के सम्पादन के लिए गृहस्थ में ही अधिक अवकाश है । मुमुक्षु होकर उस आश्रम में रहते हुए साधना करने में कोई समस्या नहीं है । देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण –इन तीनों को समाप्त करके तदनन्तर मोक्ष में मन लगाना चाहिए, ऐसी स्मृति है । इन ऋणों को समाप्त करने के लिए गृहस्थाश्रम अवश्य चाहिए, परन्तु मनुष्य धर्म को गौण करके अर्थ–काम को ही प्रधानता देकर, कैसे भी हो कुटुम्ब (परिवार) का पोषण करते हुए, व्यवहार चतुर बनने की अभिलाषा रखता है । तब उसकी कामना बढ़ती ही जायेगी । जैसे–जैसे इष्टार्थ पूर्ण होते जाते हैं, वैसे–वैसे कामना–अग्नि में घी डालने के अनुरूप बलवान् होती जाती है । न करने लायक कर्म करने पर अनिष्ट फल भी प्राप्त हुआ तो कोई आश्चर्य नहीं । इस दृष्टि से अवलोकन किया तो यह बात स्पष्ट होती है कि दु:ख का कारण अधर्म ही है, न कि परिवार का पालन–पोषण ।

यह सच है कि मुमुक्षु को पत्नी–बच्चे–घर इत्यादि में अनासक्त रहना चाहिए । अभिष्वंग[2] रहित होना चाहिए, ऐसा गीता में उपदिष्ट है अर्थात् अपना कर्त्तव्यकर्म सब उखाड़ फेंककर पत्नी–बच्चे में ही आसक्त न होवे । ''वे लोग ही मैं हूँ'', इतने हद तक दुराभिमानयुक्त आसक्ति से सब कुछ बिगड़ जाता है– यही उस उपदेश का अर्थ है । औरत–बच्चों को बीच पानी में छोड़कर भाग जाओ, ऐसा इसका अर्थ नहीं है । पुत्रों को उचित काल में उपनयन संस्कार कराकर ब्रह्मचर्यपूर्वक जीने को सिखाना, कुल के अनुसार वेदशास्त्रादि का परिचय कराना, द्विजाति पिता का कर्त्तव्य है । उसी प्रकार उनके लिए योग्य वधू–वर

---

1. ओशास्त्रीय रीति से जीने वाले ।
2. अनन्यात्मभाव रूप आसक्ति विशेष अभिष्वंग कहलाता है। जैसे दूसरे के सुखी या दुखी होने पर मैं ही सुखी–दु:खी हूँ, ऐसा मानना अभिष्वंग है ।

ढूँढकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कराना भी उनका कर्त्तव्य बनता है । इस प्रकार के व्यवहार से मुमुक्षता में कोई कमी नहीं आती है ।

अल्पविरक्ति वाले मुमुक्षु को कर्मयोग–भक्तियोग के द्वारा भगवान् की आराधना करनी चाहिये । इस आराधना के अंगरूप में कुटुम्बभरण अर्थात् परिवार का पालन–पोषण भी अवश्य करें । इन सब लोगों को परमेश्वर ने ही मुझे सौंप दिया है, इसलिए परमेश्वर प्रीत्यर्थ ही इन सबका भरण–पोषण कर रहा हूँ, इस भावना को बढ़ाते जाना चाहिए । अपने समस्त परिवार को अध्यात्म साधना की तरफ घुमाना चाहिए । इससे अपनी साधना के लिए मदद ही मिलेगी, कोई आतंक उत्पन्न नहीं होगा ।

अब जो तीव्र वैराग्य से संन्यासाश्रम को ही स्वीकार करना चाहता है, उसे अपनी सम्पत्ति को पत्नी–बच्चों में बाँटना चाहिए । वे योग्य स्थान–मान में स्थित रहें, इसके लिये प्रयत्न करना उसका कर्त्तव्य है । इस प्रकार अपनी समस्त धन–सम्पत्ति को कुटुम्ब, ज्ञाती और सत्पात्र – इन सबके लिए दान करके विधि–विधान से किया गया संन्यास, वीर्यवत्तर होकर भविष्य की अध्यात्मसाधना में सहायक बन जाता है । इसलिए जो उत्तमाश्रम स्वीकार करने की इच्छा रखते हैं, उन्हें भी अपने बच्चों का विवाहादि कराना अनुचित नहीं । वह तो उसका कर्त्तव्य ही है ।

कुटुम्ब–द्वेष मुमुक्षुत्व और भगवद्भक्ति के लिए कदापि शुभ संकेत नहीं है । संसार में मिलने वाले विषयभोगों के प्रति अभिलाषा रखना मात्र परमेश्वर की आराधना में वास्तविक रोड़ा (अटकाव) है । मैं अध्यात्मसाधक हूँ, भगवद्भक्त हूँ – इस प्रकार कहते हुए समस्त लौकिक व्यापार को परित्याग करके आलसी होकर बैठने वाले को इह (इस लोक का) सुख भी नहीं मिलता है और परमेश्वर का प्रसाद भी दूर हो जाता है । जिस प्रकार हम कुटुम्ब को प्रेम से देखते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण वसुधा को प्रेमपूर्वक दर्शन करना रूप भगवद्भावना का सम्पादन

करना ही मुमुक्षुत्व है और वही उत्तम भक्ति का प्रधान संकेत है, ऐसा विद्वान लोग कहते हैं।

***

4–ब्राह्मण्य का रक्षण (जनवरी–1956)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र प्राप्त हुआ । आज के जमाने में ब्राह्मणत्व की रक्षा करना कष्ट कर होता जा रहा है । बाहर स्थित समाज का रूप दिन–प्रतिदिन बदल रहा है । वर्णाश्रम धर्म पालन करने के लिए समस्या ही समस्या सामने खड़ी हो रही है । ऐसी स्थिति में जो ब्राह्मण्य में अभिमान रखता है, उसको क्या करना चाहिए ? ऐसा आपने पूछा है ।

बहुत जटिल प्रश्न है परंतु ब्राह्मण्य की रक्षा करने में किसी को भी कभी भी– किसी प्रकार की भी अड़चन या आतंक नहीं है– इस बात को हमें स्मरण में रखना चाहिए । जातिकृत और गुणकृत रूप में ब्राह्मण्य अर्थात् ब्राह्मणत्व दो प्रकार का है । हाँ, यह बात सच है कि जो ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुए हैं, उनके लिए अपनी जाति के अनुसार शास्त्रोक्त समस्त आचार (कर्म) को आचरण में लाने के लिए आज के दिन कुछ हद तक अड़चन है । तथापि जितना हो सके उतने धर्म को आपद्धर्म मानकर उन धर्मों की रक्षा के विषय में प्रयत्नशील होना चाहिए । मुख्य ब्राह्मण्य तो गुणकृत ही है, उसके रक्षण में यत्न करना अत्यावश्यक है ।

ब्राह्मणों को ब्रह्मचर्य, ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मविद्या – ये अत्यावश्यक रूप में सम्पादन करने योग्य है, ये सब ब्रह्म से अर्थात् परमात्मा से सम्बन्धित हैं, इस बात को अवश्य मन में बैठाना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य माने शरीर–वाणी–मन[1] को 'परतत्त्वज्ञानप्राप्त्यर्थ योग्य हों' इसके

1. काया–वाचा–मनसा ।

लिए तैयार करना रूप साधन । पूर्वकाल में गुरूजनों के समीप नियम से रहते हुए वेदशास्त्रों का अध्ययन करने के क्रम को ब्रह्मचर्य नाम से पुकारते थे । आजकल वह समय प्राय: लौकिकविद्याभ्यास में ही, इहलोक जीवन से सम्बन्धित ज्ञान सम्पादन में ही विनियोग हो रहा है । ब्रह्मचर्य माने विवाह नहीं करना– इस प्रकार कुछ लोग अर्थ की कल्पना करते हैं । हो सकता है समयानुसार ब्राह्मण भी जीवनोपाय सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त करने के लिए विवश हो गया हो, परन्तु परमेश्वर सम्बन्धित ज्ञान सम्पादन के विषय में जो प्रयत्न चाहिए, उसको ढ़ीला (शिथिल) करने के लिए कोई कारण नहीं दिखता है । किंचितमात्र इन्द्रियलोलुपता के लिए अवकाश न देते हुए ब्रह्मस्वरूप को समझाने वाले वेदशास्त्र पुराणों के अभ्यासार्थ जीवन के एक भाग को विनियोग करना ब्राह्मण्य रक्षण के लिये अत्यावश्यक है ।

त्रिकरण संयमपूर्वक वेदशास्त्रों का अध्ययन रूप ब्रह्मचर्य जितना आवश्यक है, उतना ही **ब्रह्मज्ञान** सम्पादनार्थ ब्रह्मजिज्ञासा करना भी ब्राह्मणत्व के रक्षण के लिए अत्यावश्यक है । वर्तमान काल में विपुल मात्रा में ग्रन्थ राशि उपलब्ध है । लोकवृत्तान्त को प्रकाशित करने वाली पत्रिका अगणित मात्रा में विद्यमान है । चित्तविक्षेप के लिए अवकाश न देते हुए इनके द्वारा गार्हस्थ्य में भी **ब्रह्मविचार** करना चाहिए । सीखी हुई लौकिक विद्याओं को परोपकारार्थ विनियोग करना चाहिए । इस प्रकार जीवन व्यतीत करने वाले ब्राह्मण को, इस लोक में सुख दूर नहीं है । परलोक में भी उत्तम गति अवश्य प्राप्त होती है ।

ब्राह्मण को जितना हो सके, उतना अल्पप्रमाण में, शास्त्र की मर्यादा के अंतर्गत ही विषयसेवन करना चाहिए । ईश्वरानुग्रह से वैराग्य प्राप्त होने पर केवल ब्रह्मविचारार्थ ही समस्त जीवन को विनियोग करना चाहिए, यह संन्यास जीवन है । आजकल परमहंस परिव्राजक रूप में जिंदगी बिताने के लिए कई प्रकार के संकटों का सामना करना पड़ रहा है। वेषसहित संन्यासी जीवन बिताना नहीं

हुआ तो एक निश्चित् आयु में **मानस संन्यास** अवश्य करें । तदनन्तर केवल ब्रह्मविचार में ही मन लगाना चाहिए । श्रवण–मनन–निदिध्यासन को छोड़कर अन्य कोई मुख्य उद्योग न हो, वैसा उस आयु में सारा प्रबंध शुरू से कर लेना चाहिए। यही ब्राह्मण के द्वारा करने योग्य लाइफ इन्श्योरेन्स (जीवन बीमा) है ।

ब्रह्मविद्या परिपक्व हो जाने पर **ब्रह्मनिष्ठा** अपने आप फलित होती है । तभी मुख्य वृत्ति से ब्राह्मण्य की प्राप्ति होती है । **समस्त भूतों में भी परब्रह्म का ही दर्शन करते हुए सबके साथ प्रेम से बर्ताव करना रूप और यथाशक्ति सबका उपकार करना रूप मुख्य ब्राह्मणत्व** का सम्पादन करना वर्तमानकालीन साधकों को भी शक्य है । बाह्य वेश का ब्राह्मण्य नामक नारियल का छिलका इस सार रूप ब्राह्मणत्व के लिए ही शास्त्रों में विहित है । ईश्वरानुग्रह से आपको भी यह सार उपलब्ध हो, ऐसी मेरी अभिलाषा है ।

***

5–निवृत्ति धर्म के लिए तैयारी (दिसम्बर–1956)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपके सभी पत्र पहुँच चुके हैं । प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म रूप में सनातन धर्म दो प्रकार का है । प्रवृत्ति धर्म अभ्युदय का कारण है अर्थात् इस लोक और परलोक में भी उत्तम उत्कर्ष को प्रदान करता है । ''धर्म, अर्थ और काम के विषय में तुमको छोड़कर अलग नहीं होऊँगा'' ऐसा विवाह के समय में पति से पत्नी को वाग्दान दिलवाते हैं न ? वह इस अभ्युदय के अंतर्गत है । इस लोक में सुख के लिए किया जाने वाला लौकिक प्रयत्न भी परमेश्वर की आराधना के रूप में करने पर (वह प्रयत्न) और भी अधिक उत्तम स्तर का सुख प्रदान कराता है । वह भी प्रवृत्तिधर्म ही है ।

इस पीठिका को इसलिए लिखना पड़ा है कि – प्रवृत्ति धर्म में स्वयं के

अलावा अपने कुटुम्बीजन भी सहभागी बनते हैं । उनकी भी योग्य रीति से देखभाल करते हुए उनको भी इह–पर सुख प्राप्त होवे, इसके लिए धार्मिक मार्ग में पूरे परिवार को भी चलाना गृहस्थ का कर्त्तव्य ही है, परन्तु निवृत्तिधर्म का विषय अलग है । निवृत्तिधर्म के मार्ग में जो साधना करता है, उसी को वह फलकारी है । हाँ, यह बात सच है कि इस मार्ग में भी सत्संग के द्वारा अन्य लोगों को भी कुछ हद तक सहायता मिलती है, परन्तु अन्ततोगत्वा अपने–अपने परम पुरूषार्थ के लिए व्यक्ति स्वयं ही जिम्मेदार है ।

उसमें भी निवृत्तिधर्म का प्रथम सोपान जो कर्मयोग है, वह प्रवृत्तिधर्म होने पर भी वेषान्तर को प्राप्त हुआ है । फल की अपेक्षा के बिना ही ईश्वराराधनार्थ स्वकर्म करने पर उससे मुमुक्षु को निवृत्तिधर्म के लिए आवश्यक चित्तशुद्धि की प्राप्ति होती है । उस अवस्था में भी उसको अपने घर पर ही रहते हुए कर्मयोग को करते रहना चाहिए, परन्तु जब कर्म से मिलने वाले फल से भी अधिक परमपुरूषार्थ ही मुझे चाहिए – इस प्रकार की उत्कट इच्छा का उफान आता हो तब स्वयं की सम्पत्ति को अपने से अवलम्बित लोगों को देकर और यथाशक्ति दानधर्म करके विध्युक्त रीति से कर्मसंन्यास करना चाहिए । इस प्रकार संन्यास के प्रति मन आकर्षित होना पूर्वजन्म के पुण्य से ही है । वैसा होने पर तुरंत निवृत्तिधर्म–सेवनार्थ चल पड़ना चाहिए, परन्तु जैसे प्रवृत्तिधर्म में साझेदार है, वैसे इस निवृत्तिधर्म में कोई हिस्सेदार लोग हैं ही नहीं ।

जिसने स्वयं अपने घर–परिवार के प्रति अपनी जिम्मेदारी को पूर्ण किया हो, तदनन्तर उसके ऊपर घर–परिवारवालों का कोई अधिकार नहीं रह जाता है । उस स्थिति में उन लोगों के अभ्युदय के लिए मेहनत करते हुए अपने परम लक्ष्य को भूलने वाला मानो आत्महत्या ही कर रहा है । जो प्रवृत्तिधर्मप्रधान है, उनके लिए करने योग्य अनेक कर्म हैं। उनसे छुटकारा पाने के लिए प्रयास करने वाला आलसी, इह–पर से वंचित होकर नरकभाज बन जाता है । परन्तु जब मन

उत्कट वैराग्य से तत्त्वान्वेषण की अभिलाषा रखता हो, तब मेरे परिवार में कोई एक संकट में है, उनके लिए परिश्रम कर रहा हूँ, ऐसा बोलनेवाला निश्चय ही आत्मवंचक है।

मुझे वैराग्य चढ़ गया है, मैं संन्यास ले लूँगा, इस प्रकार ढोंग करते हुए दिखावे की बात करने वाला पाखंडी है । वह तो खुद धोखा खाते हुए अपने पास आने वाले दूसरों को भी धोखे में ही डाल देगा । क्या आपको वास्तव में वैराग्य है ? जो तत्त्वविचार के लिए अतीव अवश्य है ऐसे शास्त्र में कहे गये साधन को आपने जीवन में समन्वित कर लिया क्या ? इस विषय की परीक्षा स्वयं कर लीजिए । यदि बात सच है तो **यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्** – जिस दिन वैराग्य हो जाए, उसी दिन परिव्राजक हो जाओ – यह वचन आपको अन्वय होगा। आप उस मार्ग को जल्दी से जल्दी अपनाएं तो आपके लिए हितकर है ।

***

6–संन्यासाश्रम सार्थक होने की रीति (मार्च–1958)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

संन्यासी लोगों को वर्तमानकाल में कैसे व्यवहार करना चाहिए ? दान–धर्म के प्रति लोगों की श्रद्धा कम होती जा रही है । साधु–संतों का आदर करना अपना कर्त्तव्य है – इस बात की जानकारी लोगों को है ही नहीं । इस तरह के विषमकाल में संन्यासी लोगों को कैसे अपने धर्म की रक्षा करनी चाहिए ? एक ही जगह पर ठहरने से लोगों पर भार बन जाते हैं । परिव्रजन (विचरण) करते रहने से अपरिचित जगह में भिक्षा मिलना कठिन हो जाता है । किस प्रकार बर्ताव करने से यह आश्रम सार्थक होगा ? ऐसा एक यतिवर्य ने प्रश्न पूछा है ।

''स्वधर्म में रहते हुए मरने से भी चिन्ता नहीं, परधर्म का अनुसरण करने से भय की प्राप्ति होती है'' । भगवान् श्रीकृष्ण की इस सूक्ति की अवहेलना करने

वाले लोगों की संख्या आजकल अधिक है । अत: इस काल में ऐसे प्रश्नों का जवाब देना कठिन हो जाता है । फिर भी इस प्रकार की समस्या बार-बार सिर उठाने की संभावना होने के कारण इसके लिए सब लोगों को (स्वयं को) जैसा ठीक लगता है, वैसा उत्तर खोजना उचित है । अत: इस प्रश्न के लिए यथामति उत्तर लिखता हूँ । गुणांश को मात्र स्वीकार करें ।

जितना सच यह है कि विरक्त साधु-संन्यासियों के विषय में कैसा व्यवहार करना चाहिए, इस बात को अनेक गृहस्थ नहीं जानते हैं, उतना ही सच यह है कि अनेक भिक्षु या मधुकरीवृत्ति वाले साधु भी अपने-अपने कर्त्तव्य के विषय में नहीं जानते हैं । वर्तमान काल मे कई लोग आगे-पीछे नहीं देखते हुए अर्थात् बिना सोच-समझ के साधु-संन्यासी बन गए हैं । अपने आश्रम धर्म को कैसे बरकरार रखना चाहिए, इस बात को वे नहीं जानते हैं । जनसामान्य के विषय में कैसे व्यवहार करना चाहिए, इस बात को भी वे नहीं जानते हैं, ऐसा मजबूरी से कहना पड़ रहा है ।

क्या है संन्यास ? समस्त कामनाओं को मनपूर्वक परित्याग करना । यह तो जो परमात्मा में निष्ठा प्राप्त कर लिया संन्यासी, या उस स्थिति को प्राप्त करने में प्रयासरत् साधक - इन दोनों को मात्र साध्य है । बाकी सब नाम के लिए संन्यासी हैं । उनके लिए अपने आश्रम को सार्थक करना बहुत कठिन है ।

सबसे पहले संन्यासी को अन्त:शौच और बहि:शौच का सम्पादन करना चाहिए । स्वयं किसी से कुछ भी अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए । सर्वदा तत्त्वानुसन्धान परायण होना चाहिए । शरीर मजबूत है तो किसी भी जगह में बहुकाल तक स्थिर रहना कदापि ठीक नहीं है । लोगों के लौकिक व्यवहार में हस्तक्षेप करना उसके लिए अत्यन्त अनुचित है । संन्यासी ज्ञाननिष्ठ होकर कृतकृत्य हो गया हो तो परमार्थमार्गान्वेषक मुमुक्षुजनों द्वारा पूछने पर उनकी योग्यतानुसार साधन बताना गलत नहीं है । परन्तु सामाजिक विचार, राजकारण

लोगों के साथ तारतम्यपूर्वक कृपानैष्ठुर्य दिखाना, लोकवार्ता, संग्रह में तत्परता, सामुद्रिक, ज्योतिष, वशीकरण मंत्र-तंत्रादि के द्वारा लोगों का मन जीतने के लिए प्रयास करना, इत्यादि साधु-संन्यासी के लिए कदापि उचित नहीं है । साधक के लिए तो यह सब अधःपतन का ही कारण बनते हैं ।

प्रथम साधक संन्यासी को शरीराभिमान का परित्याग करना चाहिए । किसी को भी शिष्य रूप में परिग्रह न करें । एकवचनपूर्वक सम्बोधित करते हुए अपनी आज्ञा को दूसरे के प्रति लादने का प्रयास नहीं करना चाहिए । अपनी भिक्षा के बारे में भी 'कल क्या होगा' ? इस प्रकार की चिन्ता को मन में भी न लावे । प्रणवजप, तत्त्वचिंतन, अच्छे विद्वान् महापुरूष लोग मिलने पर उनके साथ वेदान्तविचार – यही उसके लिए दिन-प्रतिदिन का आहार होना चाहिए । मरने या जीने की इच्छा भी न रखें । केवल परमेश्वर की ही शरण लेनी चाहिए । तब भगवान् उसका समस्त योगक्षेम का भार अपने ऊपर ले लेता है ।

संन्यास एक आश्रम नहीं है । वह अत्याश्रम है । आश्रम को भी लाँघना रूप कोई एक उत्तम स्थिति है । 'सकलमिदमहं च वासुदेवः' । मेरे सामने दृश्यमान सब कुछ और मैं स्वयं भी, भगवान् वासुदेव ही हैं । वासुदेव से बढ़कर अन्य कोई दूसरा देव नहीं है । वासुदेव से बढ़कर अन्य कोई मंगल भी नहीं है । इस प्रकार उस वासुदेव में ही परभक्ति सम्पादन के लिए कोशिश करना चाहिए । ऐसे महात्मा को सर्वत्र वासुदेवमय भावना ही होने के कारण, इह पर (इसलोक और परलोक) में किसी भी प्रकार के योगक्षेम की चिन्ता सम्भव ही नहीं ।

***

7–वेदान्तविचार में प्रगति कैसे करें (फरवरी–1960)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच चुका है । आपको छोटी उम्र से ही वेदान्तश्रवण में अभिरूचि उत्पन्न होना ईश्वरानुग्रह से ही है । इस विचार में कैसे आगे बढ़ें ? आपने इसके बारे में मेरे से अभिप्राय पूछा है । अत: आपके इस पत्र को गुणग्रहण दृष्टि से पढ़ना चाहिए, तब आपको लाभ होगा, ऐसा मुझे विश्वास है ।

आप वेदान्त नामक केवल शब्द श्रवण के लिए पागल होकर जो मिला उससे किसी भी एक ग्रंथ पढ़ने के चक्कर में न फँसे । उपनिषद् में विद्यमान तत्त्वोपदेश क्रम को ही वेदान्त कहते हैं । आप ब्राह्मण होते हुए वैदिकाचार को क्यों छोड़ दिये ? आचार प्रथम धर्म है, अच्युत ही धर्म का प्रभु है, इस विष्णुसहस्त्रनाम की फलश्रुति को लक्ष्य में रखें । तत्क्षण से पश्चात्तापपूर्वक शुद्धाचार को आरम्भ करें । सन्ध्यादिकर्मों को श्रद्धा से करते हुए उस (कर्म) को भगवदाराधना मानते हुए उस भावना की वृद्धि करें ।

शीघ्रता से संन्यास लेकर अर्थात् गेरुआ कपड़ा पहनकर, किसी एक आश्रम चिह्न के रूप में नाम बदलकर बाहर से उपन्यास करते हुए महाज्ञानी रूप में कीर्ति सम्पादन करना कदापि वेदान्त नहीं माना जायेगा । वह तो अहंकार बढ़ाने का रास्ता मात्र है । अन्त:करण में गीतोक्त अमानित्वादि धर्मों को बैठाकर, विरक्त होकर, ब्रह्मनिष्ठ गुरू की सेवापूर्वक तत्त्वविचार करते रहिए । आपका अन्त:करण जिस हद तक विषयों से निवृत्त होकर अन्तर्मुख हो जाता है, जिस हद तक सबके आत्मरूप परमेश्वर तत्त्व का दर्शन करने के लिए बेचैन हो जाता है, उस हद तक आपका विचार आगे बढ़ा (ऐसा समझें) ।

सबमें भगवद्भावना करना, परमार्थतत्त्व को अपने भीतर ही ध्यान द्वारा देखने

के लिए प्रयास करना, पूजा–लाभ–कीर्ति की तरफ मन को झुकने नहीं देना, यही सब वेदान्तविचार शक्तिशाली होने के लिए सहकारी साधन है । कोई कुछ भी कहे, उससे भयाकुल न होते हुए परिशुद्ध आचरण को ही अपनाइये । धर्म के प्रभु परमेश्वर हैं । उनकी ही शरण में जाइए । मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि इन दो साधनों से आपके वेदान्तविचार के लिए महती पुष्टि मिल जाएगी ।

***

8–संन्यास (मार्च–1961)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

मैंने आपका पत्र पढ़ लिया । जो स्मृतियाँ संन्यास को कलिवर्ज्य कहती हैं – उस विषय के बारे में आपने पूछा है । संन्यासवेष धारण करके जीवनयापन करने वाले लोगों के बारे में वे वाक्य आये हैं, ऐसा मेरा अभिप्राय है । वेदाध्ययन, वेदोक्तकर्म, कर्मयोग, चित्तशुद्धि, ध्यानयोग इस क्रमपूर्वक ही परमार्थसंन्यास साधकों के वश में आता है, इसके बिना गैरिकवस्त्र, दण्ड, कमण्डल इत्यादि पहनावा से अधीन नहीं होता है । कलियुग में इन्द्रियनिग्रह करना लोगों के लिए अत्यन्त कष्टसाध्य है । अथवा केवल कलियुग में क्यों कहना ? जब–जब इन्द्रियपरवशता आ गयी हो, तब–तब साधक में कलिप्रवेश है । तब परमार्थसंन्यासियों का वेषधारण मात्र करना आत्मवंचना, परद्रोह, घमंड और देवद्रोह इत्यादि पापों का पीहर बन जाता है ।

वेद संन्यास करने वाला शूद्र हो जाता है–इस वाक्य के लिए संन्यास विरूद्ध है न ? हाँ । वेष संन्यास उसके लिए विरूद्ध है ही, परंतु विधिपूर्वक लिए गए संन्यास में सर्ववेदमय प्रणव को स्वीकार किया जाता है । वेद, गायत्री और व्याहृतियाँ– इन सबको प्रणव में ही प्रवेश कराकर, प्रणव तत्त्व तो परमात्मा ही है–ऐसा समझकर अपने स्वरूप को उसमें प्रवेश कर लिया गया महात्मा स्वयं ही

वेदस्वरूप है । उसको वेदसंन्यास कर लिया है, इस प्रकार कहना कैसे संभव है?

सम्यग्दर्शन ही संन्यास शब्द का अर्थ है । जब सम्यग्ज्ञान सम्पादन करके किसी भी कर्म में मेरी आत्मा नहीं है ऐसा दर्शन कर लेता है तभी यथार्थ कर्मसंन्यास उपलब्ध होता है। ऐसी नैष्कर्म्यसिद्धि को जो प्राप्त कर लिया है वह सर्वदा नित्यसिद्ध परब्रह्मरूप से ही विद्यमान है ।

इस तरह का संन्यास प्राप्त करने के लिए साधकजन चित्तशुद्धि प्राप्ति करके गार्हस्थ्य कर्मो को विधिविधान से परित्याग करना भी गौण रूप में **'संन्यास'** कहलाता है । जो इस विविदिषासंन्यास को प्राप्त कर लिया है, उसे लौकिक व्यवहार में कदापि सक्रिय नहीं होना चाहिए । श्रवण–मनन को करते हुए क्रम–क्रम से अमानित्वादि साधनाओं में ही लीन होना चाहिए । वह कलिवर्ज्यसंन्यास नहीं होता है ।

***

9–संन्यास का तत्त्व (फरवरी–1963)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच चुका है । जीवनकाल में आप अधिक से अधिक समय को अध्यात्मविचार में ही व्यतीत किये हैं । इसलिए बुढ़ापे में आपका मन संन्यास की ओर मुड़ना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । संसार के सुख–दुःख भोगने के अनन्तर प्रत्येक मनुष्य को संन्यासपूर्वक शरीर छोड़ने का लक्ष्य रखना चाहिए ।

परन्तु इस सामान्य नियम में प्रतिषेध भी है, जिसमें वैराग्य नहीं वह इस तुरीयाश्रम के लिए योग्यता नहीं रखता है । श्रुति कहती है कि **'यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत्'** अर्थात् जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हुआ उसी दिन घर का परित्याग करो । अन्त तक जिसके अन्दर नपा–तुला वैराग्य ही है, वह

संन्यासवासना के कारण आतुर संन्यास को स्वीकार कर सकता है ।

जिसमें यमनियमादि का पालन करते हुए, स्वतंत्रता से संचार करते हुए, भिक्षावृत्ति से जीवन यापन करते हुए और गुरुजी की सेवापूर्वक श्रवण–मननादि को करने की योग्यता नहीं है **उसके लिए संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है ।** धीरे–धीरे वह भी संन्यास के लिए योग्य हो जाता है ।

गृहस्थ होते हुए भी शरीर के अंग जीर्ण–शीर्ण होकर अन्य की सहायता के बिना ही संन्यासी होकर जीना कष्टसाध्य हो तो वह संन्यास आश्रम उसके लायक नहीं है, वैसे गृहस्थ को तो मानससंन्यास ही उक्त है । जैसे–जैसे बुढ़ापा घेरने लगता है, वैसे–वैसे लोकव्यवहार को अधिक से अधिक कम करते जाना चाहिए और अध्यात्मचिंतन में ही मन लगाना चाहिए । इस प्रकार जीवनयापन करनेवाले को अवश्य ही भगवान् ज्ञान का अनुग्रह करते हैं, इस विषय में संशय ही नहीं है ।

एक बात को स्मृतिपटल में बनाये रखें । किसी भी कारण से वैराग्य की वेषभूषा धारण करके धर्मध्वजी नहीं बनें । उससे अध्यात्मजीवन में बहुत बड़ा रोड़ा उत्पन्न होता है । परमेश्वर तो सगुण और निर्गुण भी है । **लोकवार्ता में मन न लगाते हुए नित्य अपने मन की प्रसन्नता के अनुरूप भगवच्चिन्तन में ही जो निरत है, उसको निष्क्रियात्मा में स्थिरतारूप परमार्थसंन्यास अवश्य उपलब्ध होता है । उस महान पुरुष के स्तर तक केवल वेषधारी संन्यासी कदापि नहीं पहुँच सकते हैं ।**

***

10-संन्यासियों के कर्तव्य (मार्च-1963)

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र प्राप्त हो गया है । इस कष्टकाल में हमारे सदृश संन्यासी लोग क्या कर सकते हैं ? सम्पन्न लोग धन दे सकते हैं । बलवान जंग में उतर सकता है । भिक्षावृत्ति से जीवन चलानेवाले हम जैसे लोगों को देशसेवा किस प्रकार करनी चाहिए ? ऐसा आपने लिखा है ।

हाँ, यह बात सही है कि संन्यासी लोगों को भिक्षावृत्ति से देहयात्रा करनी चाहिए । परन्तु उन लोगों का लक्ष्य केवल भिक्षावृत्ति ही नहीं । सम्पूर्ण जगत परमेश्वर की विभूति है, परमेश्वर ही समस्त जगत की आत्मा है, सिर्फ परमेश्वर ही परमार्थ सत्य है, इस बात को मन में बैठाने के लिए जिस निवृत्ति धर्म का परिपालन करना बेहद आवश्यक है, उस निवृत्तिधर्म में स्थायी होना ही संन्यासियों का कर्तव्य है । इस कर्तव्य को निभाने पर आपके विषय में लोगों में पूज्यबुद्धि उत्पन्न होगी । तब सब लोग आपके अनुरूप अपने-अपने कर्तव्य कर्म में लग जाते हैं ।

ईश्वरार्चनबुद्धि से अपना कर्तव्य कर्म करना चाहिए, इस विषय को अपनी आचरणयुक्त वाणी के द्वारा जनता को आपको समझाना चाहिए। देश के लिए प्राप्त इस संकटकाल में अपने-अपने तन-मन-धन को समर्पित करना चाहिए, सज्जनों का कल्याण हो, ऐसी अभिलाषा रखें, इस उदात्ततत्त्व को आपके पास आने वाले शिष्यजनों के प्रति बोधन करें । सबके हृदय में ईश्वर विद्यमान है - इस तत्त्व को मन में बरकरार रखें । सम्पूर्ण प्राणियों में विद्यमान परमात्मा की सार्वभाव से उपासना करिए । आपके पास अपव्यय अर्थात् फिजूल खर्च के वस्त्र या सामग्री न हो । 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः' इस सूक्ति को मन में घुमाते

रहना चाहिए । इस बात का ध्यान रखें कि शिष्य लोग आपकी भिक्षादि के लिए अधिक खर्च न करें । ऐसा प्रयास करें कि लोगों में धर्म मार्ग का अनुसरण करते हुए अर्थ (धन) सम्पादन करने की बुद्धि आवे । आप परिव्राजक हैं इसलिए जब तक आपके शरीर में सामर्थ्य है, तब तक देशसंचार करते हुए लोगों के लिए सन्मार्ग के प्रति आदर्शप्राय होते हुए 'आत्मैवेदं सर्वम्, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्तवाक्यों के अर्थ को मन में घुमाते रहिए, यही देशसेवा है, ईश्वर सेवा भी यही है ।

***

11-अध्यात्मविद्या (जुलाई-1944)

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

क्या हमारे जैसे लौकिक लोगों को भी अध्यात्मविद्या प्रयोजनकारी बन सकती है ? क्या व्यवहार में दबे हुए लोगों को उससे प्रयोजन मिलेगा ? अध्यात्मविद्या से व्यवहार में क्या-क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? इसके बारे में बतलाइए । इस प्रकार एक सम्माननीय व्यक्ति ने प्रश्न पूछे हैं । इस प्रकार के संशय समय-समय पर सिर उठाते रहते हैं । अत: इस विषय के बारे में मेरा अभिप्राय यहाँ लिख रहा हूँ ।

आत्मनाम के परमार्थतत्व से ही सबकुछ प्रकट हुआ है । हमारे सामने दृश्यमान प्रपंच उस आत्मा से आविर्भाव होकर आत्मा में ही स्थित है । इस प्रपंच की सब वस्तु उसकी छाया जैसी है । छाया को पकड़ने जाना बुद्धिमानी नहीं है । यदि छाया को पकड़ना है तो वस्तु को पकड़ना पड़ेगा, इसलिए आत्मप्राप्ति से सर्व की प्राप्ति हो जाती है । आत्मा को जान लिए जाने पर यह सबकुछ जान लिया जाता है, इसलिए ज्ञानीजन अध्यात्मविद्या को ही वास्तविक विद्या मानते हैं ।

वही आत्मा हमारी दृष्टि से ईश्वर है, जिसको हम लोग 'मैं' करके समझे हैं, वह जीवात्मा है, ईश्वर नहीं । मेरा, आपका, अन्य सबका और समस्त प्रपंच का अन्तःसार जो परमात्मा है, वही ईश्र है । इस ईश्वर में व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर अनन्त कल्याण गुण विद्यमान हैं । हम लोगों को प्रपंच में सर्वत्र अव्यवस्था प्रतीत हो रही है न? गरीबीपन, दर्द, चिन्ता, अशान्ति, दुःख, इन सबका दर्शन हो रहा है न ? परन्तु इन सबकी आत्मा ईश्वर ही है, इसलिए उसमें वास्तव में सम्पत्ति, आरोग्य, समाधान, शान्ति, आनन्द यह सब गूढ़ रूप में विद्यमान है । इसलिए अध्यात्मविद्या अर्थात् आत्म–विषयक ज्ञान हमारे लिए आरोग्य, समाधान, शान्ति, सुख इन सबको प्रदान करता है । इन सबको चाहे कोई भी प्राप्त कर सकते हैं, केवल इतना ही नहीं, अभी यहीं प्राप्त कर सकते है।

यदि बात ऐसी है तो इस प्रकार सबको क्यों भासित नहीं होता है ? केवल अध्यात्मविद्या से ही इन सबकी प्राप्ति हो जाती है तो फिर जनता सब परिश्रम करके क्यों थक रही है ? इस प्रकार आप प्रतिप्रश्न कर सकते हैं किन्तु यह प्रश्न पूछने वाले को अध्यात्मविद्या के बारे में जानकारी ही नहीं है । उन लोगों की धारणा है कि वह विद्या प्राप्त जन कोई भी कर्म न करते हुए आलसी बनकर मन में ही कुछ न कुछ दिवास्वप्न देख रहे होंगे । परन्तु सच्चाई दूसरी है । अध्यात्म विद्या के लिए अत्यधिक प्रयत्न की आवश्यकता है । उस विद्या की प्राप्ति के लिए हम लोगों को हमारे अन्दर विद्यमान मन के दृष्टिकोण को सम्पूर्ण रूप से बदलने का प्रयत्न करना होगा ।

हमारे मन में कोई न कोई जानकारी सहज रूप में विद्यमान रहती है । उस ज्ञान, उस बुनियाद का आधार लेकर निःसृत हमारी वाणी और हमारा आचरण, इन सबके अनुरूप हम लोगों को बाहर एक बाह्य वलय (घेरा) भासित होने लगता है । जनों के लिए तो सर्वसामान्य अनात्मविद्या है, उस दृष्टि से ही वे

विचार करते हैं, वचन बोलते हैं, बर्ताव करते हैं । उसके फलरूप प्रपंच में काम, क्रोध इत्यादि प्रतीत होने लगते हैं । चारों ओर अव्यवस्था, गरीबी, रोग, चिन्ता, शोक, मोह, और दु:ख भी दृश्यमान होने लगते हैं । इसी को ही जानकार लोग 'बन्धन' कहते हैं । अन्य कोई भी लोगों को बन्धन में नहीं डालता है । वे मिथ्यादृष्टि से अपने बाह्यवलय को देखकर वहाँ खराब दृश्यों का अवलोकन करके उससे उत्पन्न दु:ख के बन्धन में फँस जाते है । इसको त्याग करके वे अध्यात्मविद्या के अनुकूल दृष्टिकोण का अवलम्बन करें। उसके अनुसार वाणी बोलना, आचरण करना शुरु करें । तत्क्षण ही उनके चारों तरफ व्यवस्था, ऐश्वर्य, आरोग्य, सन्तोष, ज्ञान और आनन्द प्रतिभासित होने लगता है । इसलिए एक मुहूर्त या एक क्षण भी आत्मतत्त्वचिंतन का त्याग करना अनर्थ को निमंत्रण देने के समान है । बस, आत्मतत्व का चिन्तन आरम्भ करें, वही पुरुषार्थ के लिए सोपान है, वही परमलाभ है, ऐसा ऋषिगण कहते हैं ।

***

12–मन में परिवर्तन लाना (अगस्त–1944)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र आ गया है । अध्यात्मविद्या को जीवन में बैठाने के लिए क्या–क्या ग्रन्थ अध्ययन करना चाहिए ? ऐसा आपने पूछा है । अभी आपने गीता, सहस्त्रनाम, रामायण को पढ़ लिया है, ऐसा लिखा है ।

प्रतीत होता है कि आपने अध्यात्मविद्या को पढ़ाई–लिखाई के बराबर मान लिया है। यदि ऐसा है तो यह गलत धारणा है । कुछ ग्रन्थों में विद्यमान विषयों को समझने से, उन सबको भली प्रकार से जोड़कर उपन्यास करने से, लेखन लिखने से अथवा कुछ क्लिष्ट प्रश्नों के उत्तर समझने से वही अध्यात्मविद्या नहीं होती है । **अध्यात्मविद्या माने हमारी आत्मा के, अपने वास्तविक स्वरूप**

के, मेरे, आपके और सबके, प्रत्येक तत्त्व के परमार्थ स्वरूप को समझकर उसी में स्थिर हो जाना है ।

इस प्रपंच का सार (प्रत्यक् तत्त्व) रूप आत्मा आनन्दघन है । मिश्री के ढेले को कहीं से भी चखो तो वह मीठा ही होता है न ? इसी प्रकार यह प्रपंच वास्तव में उस आत्मा नाम का मिश्री का पर्वत है । परन्तु जैसे नमक को खायी हुई चींटी को चीनी भी नमकीन मालूम होती है वैसे ही हम लोगों को यही आनन्दघन, अब दु:ख का ढेर बन गया है । इसके लिए जिम्मेदार, हमारे मन में स्थित संसार ही है ।

हम लोगों को दृश्यमान दु:ख, वास्तव में प्रपंच में नहीं है । मन अपनी वर्तमान स्थिति के कारण दु:ख को ही देखने के लिए मजबूर है । ऐसा होने पर भी यह सब आनन्द की खदान है । यहाँ सब कुछ आत्मा ही है । आत्मा आनन्दमय है इस प्रकार तत्त्ववेत्ता लोग कहते हैं । हमें परेशान कर रहे – बुढ़ापा, मृत्यु, दर्द, चिन्ता यह सब प्रतीयमान प्रपंच के अन्तर्गत है । वास्तव में प्रपंच तो आत्मा ही है आत्मा ब्रह्म ही है अर्थात् निरतिशय आनन्द है । परमार्थ में जो आनन्दरूप है, उसी को हमने दु:खमय कर लिया है । इसके लिए हमारा मन ही कारण है । इस वास्तविक आनन्द का अन्वेषण करके खुशी से झूम उठने के क्रम को ही **अध्यात्मविद्या** कहते है ।

इसलिए आप बहुत ग्रन्थ अध्ययन करने की इच्छा त्याग दीजिए । आप मन की मरम्मत करके पहले से ही आपको प्राप्त, अपनी आत्मा, स्वरूपभूत, साररूप आनन्द को समझने का प्रयास करें । अभी आपका मन ही आपके लिए पराया हो गया है । वही मन आपके लिए अनचाहे दु:ख, दर्द, बैर, गरीबी, रोग इत्यादियों की भावना करते–करते आपके चारों ओर उन दु:खादियों को प्रतीत करा रहा है । अब आप इसके प्रतिपक्षरूप में सुख, सन्तोष, प्रेम, ऐश्वर्य, आरोग्य इत्यादि शुभचिन्तनों से मन को भर दीजिए । उसी मन को

शुभचिन्तनरूप व्यसन में लगा दीजिए । आज से ही यह कार्य आरम्भ करें । इसके पश्चात् आपके चारों तरफ सुख–शांति प्रसारित होने लगेगी । मन ही बन्धन का कारण है, वही मन मोक्ष का भी कारण है । इस प्रकार मोक्ष के कारण रूप में मन को परिवर्तन करने का कौशल ही अध्यात्मविद्या है ।

***

13–गुरु में कौनसी भावना होनी चाहिए ? (जनवरी–1947)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपके पत्र का जवाब देने की इच्छा होने पर भी एक–दो महीने से अवकाश नहीं मिला । अब इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप में लिखता हूँ ।

मुझे ऐसा लगता है कि आजकल हमारे गुरुजी किसी न किसी कारण से हमारे प्रति पहले जैसा अनुराग नही रख रहे हैं । गुरुजी के समीप सैकड़ों शिष्य आते–जाते रहते हैं । बहुश: इसी कारण से मेरे विषय में गुरुजी को खिन्नता आ गई हो, ऐसा मुझे अनुमान है । पूर्व की भाँति वे मेरे प्रति प्रसन्न रहें, उनका अनुग्रह सम्पूर्ण रुप से बना रहे, इसके लिए क्या करना चाहिए, जरा समझाइए, ऐसा आपने लिखा है ।

इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर देते समय अत्यधिक सावधानी, बुद्धिमत्ता और सहानुभूति अतिआवश्यक है । अन्यजनों के गुरुजी के विषय में मेरा अभिप्राय व्यक्त करना कठिन कार्य है । साधारण रूप में किसी एक को गुरु के रूप में चुनते समय उनमें स्थित सात्त्विकता, ज्ञान का स्तर, उपदेश में दक्षता, कारुण्य इत्यादि सद्गुणों को अवलोकन करके ही विवेकीजन शरण में जाते हैं । जब बात ऐसी है तो, ''आजकल गुरुजी थोड़ा अलग बर्ताव करते हुए दिख रहे हैं'' इस प्रकार प्रतीत हो रहा हो तो इसके लिए क्या कारण हो सकता है ? एक कारण यह हो सकता है कि पूर्व में उनको एक महापुरुष रूप में मानते समय आप

विचार न करते हुए जल्दबाजी से निर्णय लिए होंगे अथवा आप जैसे शिष्यों के मन क्रम वचन में अब परिवर्तन हुआ होगा न ?

गुरु को भगवान् रूप में देखना चाहिए– इस तत्त्व को कतिपय धर्मग्रन्थों में स्वीकार नहीं किया गया है । ईश्वर के समान कोई नहीं हो सकता है, अतः मनुष्यों में ईश्वरभावना करना कभी भी श्रेयस्कर नहीं हो सकता है । इस प्रकार तत्तद् धर्मावलम्बीजन प्रतिपादन करते हैं, परन्तु सनातन धर्म का अनुसरण करने वाले हम लोग इस वाद को अंगीकार नहीं करते हैं । **''जिनको परमेश्वर में परमभक्ति है और सद्गुरु में भी उतने ही परिमाण की भक्ति है, उन लोगों को ही ब्रह्मविद्या का रहस्य प्रकाशित होता है''** । ऐसा उपनिषद्[1] में कण्ठोक्त कहा गया है । इस अभिप्राय का मूल तत्त्व यही है कि ''जो परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करके उसमें ही स्थित हैं, वे परमात्मा से अभिन्न हो गये हैं''। ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति, इसका प्रचार करना ही उपनिषदों में विद्यमान विशेषता है । अतः परमात्मा से अनन्य जो गुरुतत्त्व है उससे उपदेश प्राप्त होने पर ही शिष्य को परमात्मा अवश्य अनुभव में आता है । इसको छोड़कर केवल पुस्तकज्ञानी गुरु का उपदेश कभी भी कार्यकारी नहीं हो सकता है । इसलिए ''गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः, गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः'' इस प्रकार गुरुस्मरण रूप मंगलाचरण करके ही सत्कर्मो को आरम्भ करने की परम्परा सनातन धर्मावलम्बियों में विद्यमान है ।

किन्तु इस प्रकार का सद्गुरु उपलब्ध होना बहुत कठिन है । जिस मनुष्य को हम गुरु रूप में स्वीकार किये हैं वे पापरहित, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ हैं तो वास्तव में हमारा महाभाग्य है । यदि ऐसा नहीं, तो अधिक से अधिक उच्च स्तर के सात्त्विक, विचारपरक, उपदेशदक्ष, दयावान व्यक्ति को ही गुरुभाव से सेवन करें। उनसे उपलब्धतानुसार ज्यादा से ज्यादा उत्तमोपदेश प्राप्त करने के लिए कोई

1. श्वेताश्वतरोपनिषत् ।

रोकटोक नहीं है । सद्गुरु हमारे पिता के समान है तो इस प्रकार के मुमुक्षु लोग भ्राता (भाई) के समान है । वे स्वयं तत्त्वानुभवी सद्गुरु का अन्वेषण करते हुए सन्मार्ग में ही चलते रहते हैं । हमको भी सन्मार्ग में ही ले जाने के लिए सहायक बनते हैं । इस विषय में कोई संशय नहीं है ।

परन्तु यहाँ एक सावधानी आवश्यक है । तीर्थस्थान, शास्त्र, मंत्र, देवताविग्रह और गुरु इनमें हम लोगों को जैसी भावना है, वैसी सिद्धि होती है, इस प्रकार महापुरुषों का कथन है । सद्भावना से युक्त होकर तीर्थादि का सेवन किया तो वे हमारे लिए पावन साधन बन जाते हैं, परन्तु असत् भावना से इन सबका उपयोग किया तो हमारी भावना के अनुरूप ही फल देते हैं। तीर्थादि में परमेश्वर की सन्निधि रहती है । जो उन सबका पवित्र भाव से सेवन नहीं करता है, उन सबको उस सन्निधि का सम्बन्ध नहीं बनता है । गुरु मे ईश्वरत्व एवं मनुष्यत्व दोनों प्रतिभासित होता रहता है । गुरुजी में स्थित ईश्वरत्व को भूलकर मनुष्य स्वभाव के गुण–दोषों की गिनती करना, मोती को फेंककर सीप को रखने के बराबर है । कुछ लोग गुरु में स्थित महत्ता को स्वीकार करते हैं । उस स्वीकृति के साथ उनमें अमुक–अमुक दोष न रहा होता तो अच्छा था, ऐसा भी कहते रहते हैं । ऐसे लोग मेंढक को खाना भी नहीं होते हुए, मुख से बाहर निकलना भी नहीं होते हुए गले में फँसकर तड़पड़ाने वाले छोटे साँप के समान है अर्थात् छछुन्दर को मुख में रखे हुए सांप जैसी स्थिति के बराबर (खाने पर साँप कोढी हो जाएगा, छोड़ देने पर साँप की आँखें फोड़ देगा) । यदि गुरु में पूज्य बुद्धि है तो उनके दोष को देखने की भावना निश्चित् रूप से गलत है, ऐसा समझना चाहिए । गुरु से जानने योग्य कुछ भी नहीं है, यदि ऐसा निश्चय हो जाए तो वह केवल दिखावे का गुरु है, तत्क्षण उसको त्यागना चाहिए । वास्तव में परमेश्वर ही हम सबका आदिगुरु है । उनमें विश्वास करना चाहिए । भावपूर्वक भजन करने से सत्शास्त्र और सद्गुरु हमें अवश्य प्राप्त होते हैं ।

आपके गुरुजी से इससे पहले आपको कोई न कोई आध्यात्मिक लाभ प्राप्त हुआ कि नहीं ? क्या उनके उपदेश आपके हृदयहारिणी थे ? उससे आपका मन ऊँचे स्तर पहुँचने का अनुभव आया है कि नहीं ? क्या उनके आचरण एवं वचनों से आपकी साधना के लिए कुछ न कुछ उपलब्धि हुई कि नहीं ? इस विषय को सावधानीपूर्वक विचार करिए । लम्बे समय से आप उनकी सेवा करते आए हैं तो उनसे आपको कोई न कोई प्रयोजन अवश्य सिद्ध हुआ है, ऐसा कहना पड़ेगा । फिर भी इस प्रकार का कोई न कोई एक प्रयोजन आपके अनुभव में नहीं आया हो तो वे सचमुच गुरु नहीं होंगे, आप शिष्य भी नहीं हुए हैं, ऐसा कहना पड़ेगा । मुमुक्षुजनों के लिए परमेश्वर की कृपा से सद्गुरु की पादसेवा प्राप्त होती है । पापीजनों को सत्पुरुषों का सहवास किसी न किसी निमित्त से टल जाता है । इसलिए सर्वप्रथम गुरुजी के विषय में हमारे अन्त:करण में कुत्सित बुद्धि उत्पन्न होकर हमारे हृदय में कोई परिवर्तन आ गया है क्या ? इस विषय का अवलोकन करना अच्छा है ।

मेरे इस उत्तर से आपको अवश्य कुछ सूचना मिल गई होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। आपको सद्गुरु की कृपा-अनुग्रह मिल जाए, यही मेरी हार्दिक अभिलाषा है ।

***

14-सत्य ही बोलना चाहिए (सितम्बर-1947)

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच चुका है । झूठ बिलकुल नहीं बोलना चाहिए । जिस उद्योग में झूठ अवश्य बोलना पड़ता है, वह वास्तव में उद्योग ही नहीं । ऐसा मैंने जो लिखा था, उसको पढ़कर आपको आश्चर्य हुआ, ऐसा लगता है । व्यापार सम्बन्धी कामकाज में अनेक बार झूठ बोलने का प्रसंग आ जाता है । झूठ बोले

बिना कामकाज चलाना असम्भव है । कई बार झूठ न बोलने पर मान–हानि, धन–हानि होने का प्रसंग आ जाता है, इसलिए झूठ बोले बिना ही करने योग्य उद्योग कौनसा है ? कृपा करके समझाइए, ऐसा आपने लिखा है ।

सबसे पहले मनुष्य जीवन का उद्देश्य क्या है, इसका हमें निर्णय कर लेना चाहिए । नही तो इस प्रश्न का सटीक उत्तर ढूँढना होगा नहीं । मनुष्य का अर्थ केवल धनसंग्रह करने वाला प्राणी है, ऐसा समझना गलत है । मनुष्य को इह पर सुख चाहिए, परन्तु किसी भी प्रकार से कुछ रुपये सम्पादन करके पेटी में भरकर रखने मात्र से सुख वश में आता है, ऐसा कहना होता नहीं । इस विषय में मैं विस्तार से दूसरे पत्र में लिखना चाहता हूँ । इसलिए उस विषय को दरकिनार करके आपका जो अभिप्राय व्यापार में झूठ बोलने का प्रसंग आ जाता है, इसके बारे में थोड़ी सी विमर्शा मैं करना चाहता हूँ।

मेरा एक मित्र है । उन्होंने अमरकोश में स्थित 'व्यापादो द्रोहचिन्तनम्' इस भाग में परिवर्तन करके 'व्यापारो द्रोहचिन्तम्' ऐसा कहते हुए 'व्यापार धोखाधड़ी के बिना चलता नहीं' ऐसा प्रतिपादन किया था, उनका और आपका अभिप्राय एक ही जात का है । दोनों अयुक्त हैं क्योंकि झूठ बोलने का अथवा धोखा देने का प्रसंग केवल व्यापारियों के लिए आरक्षित नहीं । जो स्वार्थबुद्धि से सत्य को छुपाते हैं, वैसी बुद्धिवाले सभी को चाहे किसी भी उद्योग में हों, झूठ बोलना ही पड़ता है और धोखेबाज बनना ही पड़ता है।

झूठ न बोलने पर मान–हानि, धन–हानि होने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है, ऐसा आप लिखे हैं । इस बात ने मुझे अत्याश्चर्य उत्पन्न किया । झूठ बोलकर एक बार विजय प्राप्त कर सकते हैं पर जब एक बार लोग समझ गए, यह झूठ बोलनेवाला है फिर वैसे को मानहानि भी अवश्यंभावी है । आगे उनका कोई विश्वास नही करेंगे, इससे व्यवहार में अनेक प्रकार की हानि उठानी पड़ेगी । ये सब बातें दुनिया में सुप्रसिद्ध हैं । इसलिए ही श्रुति ने 'सत्यमेव जयते नानृतम्'

(सत्य ही जीतता है, झूठ हार जाता है) ऐसा उद्घोष किया है। जब वास्तविकता ऐसी है तब सत्य वचन कहने से या मिथ्यावचन न बोलने से हानि होती है, यह अभिप्राय किस हद तक सत्य है ? इस विषय का आप स्वयं विचार करें ।

क्या ऐसा कोई उद्योग है, जहाँ मिथ्यावचन नहीं कहना पड़ता है ? आपके इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले मुझे एक विषय को आपको अवगत कराना पड़ेगा । व्यक्ति चाहे कोई भी नौकरी–उद्योग करता रहे, यदि स्वार्थ परायण हो तो सद्य सम्भावित लाभ नष्ट पर ही दृष्टि रखता है तब वह 'मैं कुछ अवसरों में झूठ बोल सकता हूँ', ऐसा निश्चय करेगा, परन्तु जो व्यक्ति दूरदृष्टि रखने वाला है, जो धर्मदृष्टि वाला है, जो धर्मपूर्वक सुख सम्पादन करना चाहता है, वह व्यक्ति चाहे कोई भी उद्योग कर रहा हो, सद्य सम्भावित हानि को देखकर भय नहीं करेगा और सत्यवचन ही बोलेगा । यद्यपि यह बात सर्वप्रकार के उद्योग–धंधों के लिए समान है, फिर भी प्रकृत व्यापार–उद्योग के लिए यह विषय अन्वय करके हम विचार करके देखें । झूठ न बोलते हुए व्यापार करना क्या असम्भव है ? सत्य वचन बोलने से व्यापार बिगड़ जायेगा ? इसके बारे में मेरे अनुभव में आये हुए दो दृष्टान्तों को आपको समझाता हूँ।

बेंगलुरू में भिन्न–भिन्न जगह पर दो व्यक्ति दुकान रखे थे । उनमें से एक बेचने के पदार्थों को खूब प्रशंसा, बढ़ाई करके बेचता था । दूसरा व्यक्ति पदार्थ के स्वभाव को जितना वह जानता था, उसको ग्राहक को समझाकर अपने पास अन्य सामान भी है, तो उसको भी और उसके यथार्थ मूल्य को भी स्पष्ट रूप से कहकर व्यापार करता था । ये दोनों नये दुकानदार थे, इसलिये आसपास के लोग अधिक संख्या में दोनों दुकानदारों के समीप आ जाते थे । परन्तु वह दुकानदार, जो पदार्थों की प्रशंसा करके बेचता था, उसकी दुकान मे कई महीनों तक ग्राहक लोग बहुत संख्या में आते थे और जो पदार्थों के गुण–दोष को

यथार्थ रुप में समझाता था, उसकी दुकान में ग्राहकों का आवागमन ज्यादा संख्या में नहीं था । जो आते भी थे, वे भी उस व्यापारी के मितभाषी होने के कारण या उसमें आकर्षण कम हो जाने से आना कम कर दिये । परन्तु कालक्रम में दोनों के ग्राहकों की संख्या में परिवर्तन हुआ । जो बेमतलब सामानों की प्रशंसा करता था, उसके ग्राहक खुद को हुए नुकसान को एक–दूसरे को कहना शुरू कर दिए, इतना ही नही ''आपको अल्पसमय में ही बिना वंचना के व्यापार होना है तो दूसरी दुकान में जाए'' इस प्रकार अन्य लोगों को भी प्रोत्साहित करने लगे ।

अब मेरा देखा हुआ द्वितीय दृष्टान्त क्या है कि उसी शहर में अवस्थित दो मुद्रणालय, वे दोनों एक'–दूसरे के बगल में ही थे । एक छापने की सर्वसुविधा से सम्पन्न था । दूसरा एक छोटे यंत्र (मशीन) से युक्त था । प्रथम छापाखाने को सरकारी सहायता भी प्राप्त थी । फिर भी ग्राहकों को तृप्त न कर पाने के कारण स्थानांतरित करना पड़ा । इसका कारण क्या है कि वह आज आइये, कल आइये, ऐसा बहाना बनाता था । वहाँ स्थित ग्राहक लोगों को थोड़ासा भी विराम न होने के कारण वे इस मंत्र जप को सुनने के लिए तैयार नही थे । छोटे छापाखाने का मालिक थोड़ा ज्यादा पैसा लेने पर भी छापने का कार्य निर्धारित दिनों मे ही पूर्ण रूप में करके देता था, इसलिए लोग उसको ही चुनते थे ।

लौकिक दृष्टि से भी सत्य इतना मूल्यवान है । अब शास्त्र दृष्टि से अवलोकन करें तो वह एक अनर्घ (अनमोल) साधन है । सत्य बोलना हजार अश्वमेध से भी बढ़कर है, ऐसा महाभारत में बार–बार कहा गया है । सत्य धर्म के उद्धार के लिए ही रामावतार हुआ था, इस रामायण वाक्य को आप सुने होंगे । इन सब विषयों को मनन करने के अनन्तर सत्यानृत के बारे में आप किस अभिप्राय वाले हैं, इसके बारे में पुनः लिखें, यही मेरी प्रार्थना है ।

***

15–सत्संग का रहस्य (सितम्बर–1947)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

महाशयजी, पूर्व पत्र में सत्संग का रहस्य क्या है ? उससे क्या प्रयोजन है ? संत, साधु कहलाते हुए आजकल अनेक धूर्त लोग जहाँ–तहाँ घूमते रहते हैं । अत: आज के समय में वास्तविक सत्पुरुष को कैसे पहचानें ? इत्यादि प्रश्नों को आपने पूछा है । इसके बारे में मेरी बुद्धिशक्ति के अनुसार उत्तर लिखता हूँ । कुछ अंशों में अभी आपके लिखे पत्र का भी मेरे इस पत्र में उत्तर मिल जायेगा, ऐसा मेरा विश्वास है ।

जो नाम (यश), लाभ, पूजा में लालच दिखलाते हैं, वे सत्पुरुष नहीं है, ऐसा निश्चय करें । दाढ़ी, जटा रखना, तिलक भस्मादि धारण, शिष्यों का झुण्ड, उनके नमस्कार, लोगों का निमंत्रण, सम्मान आदि कभी भी साधु का पहचान चिह्न नहीं हैं । जो अपनी महिमा को स्वयं गाते रहते हैं अथवा खुद के सामने, दूसरों से कहलवाते हैं, वे तो अहंकारी हैं । वे तो कभी भी संत नहीं हो सकते हैं । इन सब व्यतिरेकलक्षणों को साधुपुरुषों को पहचानने में स्मरण में रखना अच्छा है । अहंकार रूपी प्रधान लक्षण को बनावटी साधुजनों की पहचान के लिए सबसे पहले देखना चाहिए ।

सद्रूप परमात्मा की निष्ठा में सर्वदा सहज रूप में रहने वाले ही सन्त, सत्पुरुष कहलाते हैं । उनमें अहंकारादि दुष्ट भावना के लिए जरा सा भी अवसर नहीं रहता है । उनके संग मे रहनेवालों को दुर्भावनाओं का नाश, शुभभावनाओं की उत्पत्ति, विषयों मे विरक्ति और भगवद्भक्ति अवश्य प्राप्त होते हैं। जैसे अग्नि के समीप बैठने वालों का शीत दूर हो जाता है, वैसे ही सन्तों के समीप रहनेवालों के सांसारिक ताप नामोनिशान सहित मिट जाते हैं।

सत्संग के द्वारा सांसारिक कामना परिपूर्ण होने की इच्छा कभी न रखें । मेरा रोग दूर हो जावे, पैसा मिल जावे, बच्चा पैदा होवे, परीक्षा में पास हो जावे, अधिकार या कीर्ति की वृद्धि हो जानी चाहिए, ऐसी कामनाओं को कदापि न रखें

इनमें से कोई एक कामना सफल हो गई तो 'महात्माजी के अनुग्रह से मुझे यह मिल गया' इस प्रकार की भावना भी न रखें । मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि सन्तों के अनुग्रह से कामनाएं पूर्ण नहीं होती, परन्तु महात्माओं की कृपा को इस प्रकार के क्षुल्लक (अल्प) प्रयोजन के लिए उपयोग नहीं करना चाहिए । यह तो चिन्तामणि रूप अमूल्य रत्न को घर के कुत्ते के गले में बाँधने के समान है ।

सच्चे सत्संग से आपका आचार–व्यवहार पवित्र हो जाना चाहिए । आपका चित्त सहज रूप से वैराग्य को धारण करना चाहिए । स्वाभाविक रीति से आपमें भगवद्भक्ति उद्भव होनी चाहिए । सत्संग से यदि ऐसा नहीं हो रहा हो तो वे वास्तव में साधु नहीं है अथवा आप सच्चा सत्संग किये नहीं हैं– ऐसा निश्चय करना चाहिए ।

सत्संग का अर्थ महात्माओं की शारीरिक सेवा करना, उनको नमस्कार करना, उनके बोल–चाल का अनुकरण करना और 'ये मेरे गुरुजी हैं' इस प्रकार जगह–जगह पर प्रचार करना, ऐसी कुछ लोगों की धारणा है । परन्तु वास्तविक सत्संग यही है कि भगवद्भक्तों के आचरण को जीवन में लाना, उनके उपदेशानुसार जिंदगी बिताना । मैंने मन लगाकर इस प्रकार के सत्संग को किया है या नहीं ? इस विषय को हम सब आप–ही–आप बारम्बार पूछते रहना चाहिए

यदि आपके वास्तविक रूप में सत्संग करने पर भी ऊपर कहे चित्तशुद्धि आदि फल प्राप्त न हुए तो साधु–महात्मा के साधुत्व में कुछ न कुछ कमी है, ऐसा समझ सकते हैं ।

अध्यात्मशास्त्रों में स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त, ज्ञानी इत्यादि नामों से सत्पुरूषों को अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है । उन लक्षणों को पढ़कर अर्थ को मन में

बनाने का प्रयास हमें करते रहना चाहिए। यदि ऐसा हो तब आपको वास्तविक संतों का दर्शन सम्भव है और सन्तों के लक्षण भी वश में आ जाते हैं । संतों का प्राण भगवान् है, उनका अनुग्रह भी प्राप्त होता है ।

कोई भी हो अपने को जनता से साधु–संत कहलवाने के लिए प्रयास न करें साधु के लिए यह सर्वथा अयुक्त है । लोग अपने को साधु कहें या असाधु कहें, एक न सुनते हुए सत्पुरुषों के पदचिह्न पर चलते रहने का प्रयास करें । साधक अपना कोई भी एक दोष प्रकाशित होने पर उसके लिए दुखी न होवे । वास्तव में वे दोष अपने में है तो उस गलती को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए । अपने में विद्यमान अपने किसी सद्गुण को लोग पहचानकर उसकी प्रशंसा करके अपने को साधना पथ से भ्रमित न करें, इसके लिए अपनी सद्गुण सम्पत्ति को यथासंभव छिपा के रखने का प्रयास करें । 'मैं साधु हूँ' इस अभिमान को दूर करके'मैं साधुजनों का सेवक हूँ' इस भाव को ही हृदय में स्थान देना चाहिए ।

किसी को भी अनाचारी, अज्ञानी मनुष्य अथवा यह मिथ्याचारी है, इस प्रकार हीनदृष्टि से कभी न देखें । सज्जनों की सेवा से, उनके साधु वचनों के श्रवण से और उनके चरणरज के स्पर्श से जिस प्रकार चित्त निर्मल होता जाता है, उसी प्रकार दुर्जनों के सहवास से, उनकी दुरुक्तियों के श्रवण से अथवा 'यह आदमी बहुत दुष्ट है' इस प्रकार दोषारोपणपूर्वक कटु वचन बोलने से चित्त मलिन होता जाता है । इसलिए अधिक से अधिक सत्पुरुषों के चरित्र को अध्ययन करना, संतों का अन्वेषण करना, संतों की वाणी को श्रवण करना, उसे दूसरों को भी सुनाना, सत्पुरुष में भगवद्भाव रखना, इस प्रकार के आचरण द्वारा कालयापन करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए । जो इस प्रकार का साधक है, उसी को मात्र सत्संग का रहस्य समझ में आता है ।

निश्चय ही शास्त्रविचार और साधुसेवा यह दोनों परमार्थ साधना के लिए उत्तम उपाय है, परंतु शास्त्र किसको कहते हैं, साधु कौन हैं, इस बात का

निश्चय पहले ही कर लेना आवश्यक है । योगवाशिष्ठ के कथनानुसार अनंतरूप समता का आनंद जिनके द्वारा प्राप्त होता है, वे ही साधु हैं, वे ही सत्शास्त्र हैं ।

***

16–जगत् के दु:ख निवारणार्थ अब क्या करें ?
(दिसम्बर–1947)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

महाशयजी, आज के समय में चारों ओर लोगों के मन में हलचल मची हुई है। खाने के लिए अन्न नहीं है, पहनने के लिए वस्त्र नहीं है । अपने जमीन–जायदाद की रक्षा नहीं हो पाती है, बच्चों के लिए विद्याभ्यास नहीं, प्रयाण के लिए सुरक्षित व्यवस्था नहीं । समाज, राजनीति इत्यादि कारणों से लोग अनेक गुटों में बँटकर टुकड़े–टुकड़े हो गए हैं। आसपास के देशों से मन की शांति भग करने वाले समाचार बड़ी मात्रा में प्रतिदिन सुनने को मिल रहे हैं । जहां भी देखो मारकाट, लूट, चोरी, बलात्कार, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि इत्यादि रूप में मृत्यु के तीखे दाँत ही नजर आ रहे हैं । इस संदर्भ में हमारे जैसे लोग प्रजा के दु:खनिवारण के लिए कौन–सी सेवा कर सकते हैं ? इस प्रकार आपका प्रश्नपूर्वक लिखा गया पत्र प्राप्त हो गया है । मुझे नहीं लगता है, इस प्रकार के बड़े–बड़े विषयों की चर्चा करने की योग्यता मेरे में है । फिर भी आपसे लिखित पत्र का उत्तर देना मेरा दायित्व बनता है, इसको निभाने के लिए मैं जो जानता हूँ उससे आपको भी अवगत कराता हूँ ।

आपके द्वारा कथित यह दु:ख समस्त भू–मण्डल को व्याप्त कर रखा है । हमारे जैसे अल्पप्रज्ञ और अल्पशक्ति वाले इस समष्टि दु:ख को कैसे निवारण कर सकते हैं ? अब आया हुआ दु:ख अखिल भूमण्डल का दु:ख है । इस दु:ख का कारण हम ही हैं । हम ही इस दु:ख का परिहार कर सकते हैं। दु:ख रूपी रोग

का निदान भी (मूल कारण) जानते हैं, चिकित्सा भी जानते हैं, फिर भी हम उसको नहीं कर रहे हैं । फिर रोग का निवारण कैसे संभव है ? एक राजा बहुकाल से रोग से ग्रस्त था, परन्तु उसको अचूक औषधि देने वाला वैद्य कोई मिला नहीं, राजवैद्य ने एक चिकित्सा बता दी । आज से आप जलेबी, मिर्चीदार पदार्थ, प्याज को खाना बंद कर दें, मैं जो कहता हूँ उस दवा का सेवन करते हुए पथ्य (परहेज) भी रखें तो तीन महीने में यह रोग ठीक हो जाएगा । इस बात को सुनकर राजा आगबबूला हो गया । जलेबी, मिर्च, प्याज राजा को बहुत प्रिय थे, इन पदार्थों को एक क्षण भी नहीं छोड़ सकता था, इसलिये राजा ने वैद्य को मूर्ख कहते हुए जेल में डाल दिया । जैसे राजा ने किया उसी प्रकार आज के लोग भी बर्ताव कर रहे हैं । **ये तीनों नरक के द्वार हैं – 'काम, क्रोध और लोभ । ये जीवन को खराब कर डालते हैं । इसलिए इन तीनों को त्याग देना चाहिए,** ऐसा श्रीकृष्ण भगवान् का कथन है। परमेश्वर की शरण में जाना ही परमसुख शांति का कारण है, इस बात को सकल धर्मग्रंथ पुकार रहे हैं, परंतु हम मूर्ख राजा के जैसे इन तीनों को छोड़ने को तैयार नहीं हैं। जो महात्मा भगवद्भक्ति का उपदेश करते हैं, उनको तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगते हैं ।

सद्य परिस्थिति में हमारे जैसे व्यक्ति को क्या करना चाहिए, प्रजा के दुःख निवारणार्थ कौनसा उपाय करें ? इस प्रश्न का मेरा उत्तर यही है कि प्रपंच को सुधारने का भार अपना है, इस भावना को सबसे पहले छोड़ दीजिए । हमारे पुरुषार्थ को ही हम लोग कर नही पा रहे हैं, फिर दूसरों का दुःख निवारण कैसे कर सकते हैं ? सबकी रक्षा करने वाला तो परमेश्वर ही है । आर्तजनों को आर्तिहरण के द्वारा, अर्थार्थी को उनके इष्टार्थ पूर्ण करने के द्वारा, जिज्ञासु को ज्ञान के द्वारा केवल वही रक्षा कर सकता है । उनकी शरण में न जाते हुए 'हम स्वतंत्र हैं' इस प्रकार डींग हांकने वालों को भी उनके–उनके कर्म के अनुसार फल देकर दर्प भंग करके रास्ते में लाने वाले

भी वही है ।

'समस्त भू–मंडल के ऊपर ही शासन करूंगा' इस अत्याशा सहित और हम उत्तम कुल के हैं, निरुपम, निपुणजन हैं, इस प्रकार अपने आपकी प्रशंसा करने वाला हिटलर और उसके सेनापति भी अब नामोनिशान सहित नष्ट हो गए हैं । वे हजारों लोगों को बंदूक की गोलियों से बींध डाले, चित्रहिंसा (दारुण यातना) किये, शिशुहत्या किये, निरपराधियों को सजा दिये, ये सब पाप उनके नाश का कारण बन गए । उनकी सहायता में खड़े हुए मुसोलिनी का भी नाम मिट गया । जापान वाले भी यमराज के जबड़े में फँसकर छटपटाए । फ्रेंच और अंग्रेज लोग अब नाममात्र रह गए हैं । उनका चक्राधिपत्य शिथिल होता जा रहा है । राज्य तो रणरंग–रूप में बदलकर रक्त की धारा बहाने लगा । नगर में स्थित सुंदर गृह, अट्टालिका का नाश हो गया । रोटी कपड़ा से कंगाल होकर लोग जीवित रहते ही मुर्दे के समान नजर आने लगे । यह लोक अनित्य है, असुख है, शीघ्र ही मेरा भजन करिए । गीताचार्य की यह उक्ति साभिप्राय वाली है । इस बात को अब भी हम क्यों नहीं विश्वास कर सकते हैं । एटम बम के ऊपर विश्वास करके समस्त जगत हमारी मुट्ठी में आएगा, इस प्रकार समझकर अमेरिका, रूस इत्यादि राष्ट्र नरक के रास्ते पर चल पड़े हैं । इस बात को कम से कम अब तो क्यों नहीं समझ सकते हैं ?

भारतखंड में ब्रिटिश लोग देश छोड़के जाते समय हिन्दू–मुसलमानों की द्वेषाग्नि ज्वाला को भड़काने के लिए हवा देकर चले गए । इसके फलरूप वे एक–दूसरे पर विश्वास नहीं रखते हैं । राजकारण में प्रवेश किए स्वार्थपरायणों के प्रोत्साहन में फँसकर एक–दूसरे की लूटपाट करना, हत्या करना, घर को जलाना, फसल को नाश करना, पैशाचवृत्ति के द्वारा स्त्रियों का अपमान करना, बलात्कार से जातिभ्रष्ट कराना, इत्यादि राक्षसीकृत्य करने लगे हैं ।

संस्थानाधीशों के दुष्ट मंत्रीगण भी राजा और प्रजा के बीच अविश्वास फैला

रहे हैं । सत्ता की प्यास जिनमें अधिक है, वैसे कुटिल तंत्रज्ञ लोग देश में रह रहे लोगों को राजा के ऊपर और एक-दूसरे के ऊपर भी भड़का रहे हैं । यह सब काम, क्रोध, लोभ का भयंकर नृत्य नहीं तो क्या है ?

आपको क्या करना चाहिए, इस विषय को न लिखते हुए भूलोक में अब फैल रहे दु:ख को ही क्यों वर्णन कर रहे हैं, ऐसा आप न समझें । चाहे कोई भी हो काम, क्रोधादि का विश्वास किया तो नरक का रास्ता बन जाता है । उनको छोड़ने का प्रयास करते हुए परमेश्वर में विश्वास रखने मात्र से आप जहाँ हो वहीं स्वर्ग अवश्य बनेगा । एक देश की जनता वहाँ रहने वाले व्यक्तियों का गुट है । उस जनजाति के विवेकी व्यक्ति को इन तीनों दोषों का त्याग करके परमेश्वर की शरण लेने का अभ्यास स्वयं करते हुए दूसरों को भी अर्थात् अपने आसपास के लोगों को भी इसी रास्ते में ले जाना चाहिए । इससे बढ़कर सेवा नहीं, यही मेरा अभिप्राय है ।

***

17-वेदान्तविचार (मार्च-1948)

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपके पत्र के लिए क्या उत्तर देना चाहिए ? यह तो मेरे लिए एक पहेली बन गया था । इसलिए उत्तर देने में विलम्ब हुआ । उपनिषत्प्रोक्त तत्त्वज्ञान ही वेदांत कहलाता है । उसके सम्पादन के लिए किये जाने वाला विचार ही वेदांत विचार है । इस विषय में बहुजनों की सम्मति है, फिर भी आप प्रश्न पूछ रहे हैं कि अब सच्चा वेदांती कौन है ? किसके मतानुसार विचार करना चाहिए ?

वेदांत सिद्धांत यही है कि भगवान् ही ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यंत सब प्राणियों की आत्मा है । इसका दर्शन ही मुमुक्षुओं का लक्ष्य होना चाहिए । इस प्रयत्न के लिए साधन रूप जो विचार है, वही वेदांत विचार है । इसके लिए जो प्रतिबंध

(रोड़ा) है, वह वेदांत विचार नही । इतने विषय को लक्ष्य में रखें तो आपकी उलझन काफी हद तक सुलझ जाएगी ।

वर्तमानकाल में अनेक पक्ष राजनीति में सक्रिय हैं, इनमें हम किसको चुनें ? यह बहुत कठिन प्रश्न बन गया है । जिस प्रकार जो पक्ष जनता के तन–मन–धन की चिंता नहीं करता है, वह पक्ष हम में से किसी को भी नहीं चाहिए । उसी प्रकार जिसमें सर्वात्मरूप परमेश्वर की भक्ति नहीं, जिसका लक्ष्य सर्वभूतप्रेम नही, वैसे लोगों का विचार निश्चय ही वेदांत विचार नहीं हो सकता है । अच्छा, फिर वेदांतविचार का स्वरूप क्या है ? इस विषय को सबसे पहले समझना आवश्यक है । हमारे देश मे जन्म लिए आचार्यों के द्वारा रचित ग्रंथों के नाम, उनके उपदेश का सार, उनके सिद्धांतों में परस्पर जो तारतम्य है, उनको जानने का यत्न, वेदांतविचार नहीं है । वह तो वेदांतविचार के इतिहास का विचार है। इसी प्रकार किसी एक सिद्धांत सम्बन्धी कुछ ग्रंथों का अध्ययन करना, उस ग्रंथांतर्गत विषय की चर्चा करना या लेख लिखना, यह सब वेदांत विचार नहीं है वह तो तत्तद् ग्रंथों का परिचय प्राप्त करने का यत्न है । स्कूल के बच्चे अपने–अपने पाठ्यपुस्कों की परीक्षार्थ पढ़ाई करते हैं और उसमें कोई अंतर नहीं है ।

देशभाषा में उपलब्ध पंचदशी, विचार सागर, वृत्ति प्रभाकर आदि ग्रंथों का अध्ययन करना, उसमें विद्यमान श्लोकों के पद–पद्य को कंठस्थ करके वार्तालाप में उदाहरण देना, उसके आधार से भाषण देना, अथवा उनको अध्ययन कराना, यह सब वेदांत विचार नहीं है, यह तो वेदांत की बढ़ाई करने का एक तरीका है ।

भांग, अफीम आदि सेवन करके समाधिस्थिति का नाटक करना, दाढ़ी बढ़ाना, अल्फी, गेरुआ वस्त्र, पादुका, जटा इत्यादि को धारण करना, जय शंकर, सीताराम इत्यादि घोषणा करते हुए डोलना, जो समीप में आ गया है उनको मच्छी पकड़ने वाले बक पक्षी की तरह मंत्र तंत्रादि द्वारा और वेदांत

पारिभाषित शब्दों के टुकड़ों के द्वारा मोहित करना, यह सब वेदांत विचार नहीं है, इस बात को दोहराने की भी आवश्यकता नहीं है । यह तो गुरुपीठ मे बैठने के लालच को ही दर्शाती है ।

परमेश्वर को दर्शन करके कृतकृत्य होऊँ और उनको ही सबमें दर्शन करूँ, इसके लिए श्रोत्रिय, कामनाओ के जाल में न फँसे हुए पापाचरण रहित ब्रह्मनिष्ठ के पास जाकर कृतकृत्य होना है, ऐसी वास्तविक इच्छापूर्वक जो अपने सारे व्यवहार को ईश्वर आराधन कर लिए हैं, वैसे महापुरुष के साथ तत्त्व विचार करना ही यथार्थ वेदांत विचार है । इस प्रकार का विचार परमेश्वरानुग्रह से ही प्राप्त होता है ।

***

18–अध्यापकों के कर्तव्य (अप्रैल 1948)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र प्राप्त हुआ । देश की स्वतंत्रता के लिए विद्यार्थियों को मैंने प्रोत्साहित किया । शारीरिक परिश्रम, धन–व्यय की भी गिनती न करते हुए आजादी के लिए मेहनत की, पर इससे मुझे कुछ भी प्रतिफल नहीं मिला । लड़ाई के समय में दो महीना जेल में मुझे सड़ना पड़ा, विभाग अधिकारी के क्रोध का पात्र भी बन गया । इसके कारण एक मास तक सस्पेंड भी हो गया, यही मेरे परिश्रम के लिए मिला वेतन है । क्या मैं आज के पश्चात् विशाल भावनाओं को छोड़ दूँ ? इन दिनों में सच्चाई से चलना ही कठिन हो गया है । इस प्रकार आपने लिखा है ।

मेरे मन में जो है, उसको खुले दिमाग से आपको बतलाने के अलावा अन्य कोई रास्ता नहीं है। इस कारण से आपको दुःख हो तो क्षमा कर दीजिएगा । हित सहित मनोरंजक वचन दुर्लभ ही है न ? मुझे नहीं लगता है आपने उपाध्यायों के

कर्तव्य निभाए हैं, जो देश की आजादी के लिए परिश्रम करने जा रहे हैं, उनको सरकारी काम से क्या मतलब है ? कारागृह में उठाए गए कष्ट के लिए पश्चात्ताप क्यों ? इस विषय के बारे में आपने विचार नहीं किया है ।

'बच्चों को पढ़ाऊँगा' इस अनुबंध के साथ आप नौकरी प्राप्त किए हैं । फिर उन सबको राजनीति में कूदने के लिए प्रेरित किया है, यह तो धोखाधड़ी नहीं है क्या ? इस संदर्भ मे 'आप विशाल भावना से युक्त थे' ऐसा कहना नही बनता है आप किसी राजनैतिक दल से संकुचित अभिमान रखते थे, ऐसा कहना उचित है । जब बात ऐसी है, तो यदि आप सन्मार्ग में ही चलने का संकल्प किए हैं। फिर आपको अपनी गलती स्वीकार करनी चाहिए । जो भी हुआ, वह सब उस दुष्कर्म के लिए प्रायश्चित्त मानना चाहिए ।

एक बड़ा उत्तरदायित्व (जिम्मेदारी) अध्यापकों के ऊपर है । अपने क्षेत्रांतर्गत विद्यार्थियों का बुद्धि विकास करके उनको प्रपंच सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान कराना, अध्यापकों का प्रथम कर्तव्य है । पाठ्यपुस्तकों में भिन्न-भिन्न अभिप्राय जहाँ-तहाँ देखने को मिलते हैं । इतिहास सम्बन्धी पुस्तकों में अनेक प्रकार के व्यक्तियों का वर्णन है । वृत्तांत पत्रिका (न्यूज पेपर) में स्वपक्षपातीजन विविध भिन्नाभिप्राय को लिखते रहते हैं । जब विद्यार्थी लोग इन सबको पढ़ते हैं अथवा अलग-अलग उपन्यासों को सुनते है, तब उनके कोमल मन के ऊपर तरह-तरह का परिणाम होता रहता है । उस बात को स्वकर्मनिष्ठ उपाध्याय अवश्य समझता है । तब वह अध्यापक विद्यार्थियों के मन में विकास में विघ्न उत्पन्न करने वाला, उनकी शांति भंग करने वाला, उनके विद्याभ्यास को कमजोर करने वाला, अभिप्राय आने पर निष्पक्षपात से उन सबकी विमर्शा करने की प्रणाली (ढंग) को विद्यार्थियों को अनिवार्य रूप से अवगत कराता है ।

प्रत्येक विद्यार्थी को अपने घर-परिवार के प्रति गौरव, अपने सहपठियों के प्रति प्रेम, अपनी पाठशाला के प्रति अभिमान, अपने देश की संस्कृति में

आदर, सभी जनांग (जनजातियों) के प्रति सहानुभूति, इन सबको अर्जित करने के लिए योग्य बनाना ही विद्याभ्यास का लक्ष्य है । नीति का मजबूत ढाँचा एवं धर्मबुद्धि का अंकुर पाठशाला में ही उत्पन्न होता है । बच्चों के शरीर और मन में किसी भी प्रकार की न्यूनता और गंदगी न जुड़ जावे, इस बात को ध्यान में रखना ही उपाध्याय का लक्ष्य होना चाहिए ।

मैं भी एक विद्यार्थी हूँ, इस भावना से स्वयं अध्यापक को भी युक्त होना चाहिए । अभ्युदय एवं निःश्रेयस के हेतुभूत सद्ग्रंथों का अवलोकन करते रहना, अपने पाठ–प्रवचन से सम्बन्धित नूतन ग्रंथों का मनन करते रहना, यह दोनों अध्यापकों की तपस्या है । जैसे तपस्वी अपने ध्येय से अतिरिक्त अन्य सबको भूल जाता है, वैसे उपाध्याय को विद्याभ्यास के अननुगुण और उससे पृथक् विषय की ओर मन को आकर्षित करने वाले विचार एवं गतिविधि से अत्यंत दूर रहना चाहिए, यही उसका **ब्रह्मचर्य** है । सर्व विद्याओं का मूल परमेश्वर ही है । मैं उनके अनुग्रह से ही विद्या प्राप्त किया हूँ, उनके प्रेमपात्र विद्यार्थियों को विद्या वितरण कर रहा हूँ । इस प्रकार भावना करता रहे । **यही उनकी भगवद्सेवा और भागवतसेवा भी है ।** इसलिए मैं आज के अनंतर यथार्थ में उपाध्याय बन गया हूँ, ऐसी प्रतिज्ञा करें। **ज्ञानार्जन एवं बच्चों के बुद्धि विकास में प्रयास करना आपका व्रत हो जावे ।** किसी भी प्रकार के दुरभिमान के जाल में न फँसें, इसके बारे में सावधान रहिये । इसके द्वारा देशसेवा और ईशसेवा अवश्य हो जाएंगे ।

***

19–संस्कृत सीखने से परम लाभ (मई 1948)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच चुका है । इन दिनों में संस्कृत पढ़ने के लिए विराम भी नहीं मिलता है और उसको पढ़ाने वाले व्यक्ति और पुस्तक उपलब्ध होना भी बहुत कठिन है । जो संस्कृत भाषा नहीं जानता है, क्या उसको भगवान् सद्गति प्रदान नही करते हैं । यह बात सत्य है तो करोड़ों लोगों को संस्कृत की गंध भी नहीं है उन लोगों का क्या होगा ? संस्कृत सीखने के लिये प्रयास करने पर भी वह पहुँच से परे है न ? क्या किया जाए, इस प्रकार आपने लिखा है ।

भगवान् को किसी भी भाषा विशेष पर अभिमान नहीं है, परंतु भक्तों के प्रति विशेष अभिमान रहता है । उन्होंने कहा है 'जो कोई भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वह मुझमें स्थित है, मैं भी उनमें रहता हूँ'' । इसलिए संस्कृत भाषा की अनभिज्ञता के कारण निराश नहीं होना चाहिए । भगवान् में, प्राणीमात्र के आत्मस्वरूप उस परमेश्वर में निश्चल प्रेम सम्पादन करना ही पर्याप्त है । अवश्य उन सबकी सद्गति होगी, परंतु संस्कृत भाषा सीखने के लिए पर्याप्त समय नहीं मिलता है, इस टालमटोल को मैं नहीं मान सकता हूँ । अंग्रेजी, फ्रेंच आदि परायी भाषा अध्ययन करने के लिए हम लोग कालव्यय करते हैं । उस समयावकाश को संस्कृत सीखने के लिए क्यों नही उपयोग कर सकते हैं । पूर्व में जो हम लोगों के ऊपर शासन किये हैं, उनकी भाषा इंग्लिश (अंग्रेजी) है । आज हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी है, इस हेतु से हमारे बच्चे उन भाषाओं को सीख सकते हैं, परंतु 'सर्वदा शासन करने वाले सभी राष्ट्रों के क्षेमार्थ आवश्यक हित को सर्वदा समझाने वाले भगवान् का परिचय देने वाली भाषा संस्कृत है' इस कारण से हम लोग संस्कृत क्यों नहीं सीख सकते हैं । अच्छा ! यह बात छोड़ दीजिए, हम सब व्यर्थ गपशप में कितना समय गँवाते है । अनर्थकर व्यवहारों में कितना समय खो देते हैं । इसके बारे में जरा सोचना अच्छा है । दिन भर मे

आधा घंटा भी आपको नहीं मिलता है क्या ?

संस्कृत व्याकरणादि संस्कारों से युक्त भाषा है । प्रपंच की भाषाओं को भाषाशास्त्र के द्वारा परिशीलन किया जाता है । वह भाषाशास्त्र विद्वानों को संस्कृत व्याकरण के द्वारा ही स्फुरित हुआ । भरतखंड की संस्कृति की भाषा संस्कृत है, उसमें श्रुति, स्मृति, पुराण, काव्य, नाटक, छंद, ज्योतिष, गणित, वैद्य, संगीत इत्यादि धर्मार्थकाममोक्ष से सम्बन्धित सभी विचारों से परिपूर्ण ग्रंथ हजारों की संख्या में है । संस्कृत अपने पूर्वजों के अभिप्राय और आशोत्तर को अवगत् कराने वाली भाषा है । संस्कृत भाषा से ही समस्त जगत को सुख–शांति का संदेश प्राप्त हुआ है । देश–भाषाओं के कोष को भी प्रदान करने वाली भाषा संस्कृत ही है । ऐसी भाषा को अध्ययन करने के लिए हमारे पास समय नहीं है, कहना कैसी मूर्खता है ? स्वयं संस्कृत सीखूँगा और सभी घर–परिवार वालों को भी संस्कृत सिखाऊँगा, इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा करिए । दिन में कम से कम आधा घण्टा समय संस्कृताभ्यास के लिए सुरक्षित रखूँगा, ऐसा किये बिना भोजन भी नहीं करूँगा, ऐसा शपथ लीजिए । हिन्दी में स्थित भाषांतर के द्वारा काव्य अध्ययन करना आरंभ कीजिए । यदि ऐसा न किया जा सके तो महाभारत, रामायण को थोड़ा– थोड़ा पढ़ना और पढ़कर सुनाने के अभ्यास को तत्क्षण रख लीजिए । संस्कृत आपको शीघ्र ही आने लगेगी । अब रामायण के ऊपर हिन्दी भाषा मे प्रतिपदार्थ लिखी हुई पुस्तकें उपलब्ध हैं, उनको पढ़ने से भी भाषाज्ञान भी, पुण्य भी, पुरुषार्थ भी आपके वश में आ जाएंगे ।

हिन्दी राष्ट्रभाषा होने से स्त्रियाँ, बच्चे सभी उसको पढ़ रहे हैं । कम से कम आपके मन में 'हिन्दी भाषा के सहकारी रूप में संस्कृत जरूरी है' ऐसा कभी न कभी स्फुरण हुआ क्या ? राष्ट्रभाषा पढ़ने वाले सभी लोगों को राजकीय विचारों में बुद्धि लगानी चाहिए । ऐसा कुछ लोग समझे हैं । इसी प्रकार संस्कृत पढ़ने के लिए ब्राह्मण, उसमें भी केवल पुरुष ही अधिकारी हैं, ऐसा कुछ मूर्ख लोग समझ

बैठे हैं । हमें यदि इच्छाशक्ति है, तो सभी हिन्दू लोग, स्त्री–पुरुष, छोटे–बडे, ब्राह्मण–ब्राह्मणेतर भेद के बिना ही उस भाषा को अतिशीघ्र सीख सकते हैं । उससे होने वाले परमलाभ को भी प्राप्त कर सकते हैं। इस विषय में अपने अभिप्राय को लिखिए ।

***

20–दम्भ से हानि (जून 1948)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पढ़कर बहुत संतोष हुआ । नदी तट में बैठकर ध्यान करते समय मन बहुत प्रफुल्लित होता है । दिन–प्रतिदिन मित्र लोगों की संख्या बढ़ रही है । वे सब स्नानार्थ एवं सायंकालीन संध्या के लिए भी नदी पर आ रहे हैं । ऐसा आपने लिखा है ।

नदीस्नान भी और वहाँ किये जाने वाला आह्निक भी आध्यात्मिक दृष्टि से लाभदायक ही है । परन्तु हम सब वहाँ किस भाव से साधना कर रहे हैं ? इस विषय पर सावधानीपूर्वक दृष्टि रखते रहना चाहिए । हम जहाँ स्नान करते हैं वह स्थान, ध्यान करने के लिए जहाँ बैठते हैं, वह स्थान, ये सब अधिक जनों के दृष्टिगोचर हैं तो, मैं इन पवित्र कार्यों को कर रहा हूँ इस प्रकार का दम्भ अनजाने ही हमारे अन्तःकरण में उदय होना निश्चित् है । तब आपकी यह साधना सब असाधना ही हो जायेगी ।

मैं धार्मिक हूँ, आचारवान हूँ, यह दूसरों की दृष्टि में आवे इसके लिए किया जाने वाला भाव दम्भ कहलाता है । अहंकार ही दम्भ की नींव है । साधन कोई भी हो वह अहंकार के नाश के लिये सक्षम होना चाहिए, (उस साधना से) अहंकार सिरमौर हुआ तो वह साधना होने के बदले बाधक रूप में परिणत होगी। मन अन्तर्मुख होने के बदले बहिर्मुख हो गया तो चित्त में विक्षेप होगा । सात्त्विक

वृत्ति में प्रतिबिम्बित होने योग्य जो आत्मदर्शन है वह दूर हो जाएगा ।

'मै ऐसा हूँ' इस प्रकार के दाम्भिकता (दम्भ) के प्रदर्शन से व्यवहार में भी हानि होती रहती है । मेरे बारे में लोग जो अच्छा अभिप्राय रखते हैं वह परिवर्तित न होवे इस मंतव्य से हमको बेमतलब आयास उठाना पड़ेगा । अध्यात्मसाधना के लिए अंतर्मुखता का साधन रूप बाहर के किसी भी स्पर्श से रहित वृत्तिप्रवाह अवश्य चाहिए । उसके लिए तो यह दम्भ कितना हानिकारक है, यह बताने की जरूरत नहीं है।

नदी में जाना गलत नहीं है । वहाँ का वातावरण यदि शुद्ध है तो अध्यात्म साधन वीर्यवत्तर हो जाती है । परन्तु बाह्य वातावरण की अपेक्षा से भी मन का वातावरण निर्मल होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए साधक को सर्वदा अधिक से अधिक एकान्त में रहने का अभ्यास करना चाहिए । आपकी दृष्टि में यह विचार स्थित रहे इसलिए यहाँ मैं जोर लगाकर लिखा हूँ । आपको साधना का पूर्ण फल मिल जावे यही मेरी तात्त्विक अभिलाषा है ।

***

21–सत्संग (फरवरी 1949)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र मिल गया है । ''साधनाओं में सत्संग सबसे बड़ा है । सो अनेक लोग कहते हैं, परन्तु मुझे सत्संग का भाग्य नहीं है । यदा–कदा सत्पुरुषों का सहवास मिलने पर भी (सत्संग) छूट चुका है । इसके लिए मुझे उनके विषय में कुछ संशय उत्पन्न होना ही कारण है । इस प्रकार जो कुछ हुआ वह मेरे पाप का फल कहना पड़ेगा क्या ? उत्तम सत्संग उपलब्ध होने के लिए मुझे क्या करना चाहिए ? आप कृपा करके लिखिए । यही आपकी विनती है न ?

परन्तु 'मैं सत्पुरुष हूँ' ऐसा आप कैसे निर्धारित किये हैं ? अथवा सत्पुरुषों

को कसौटी पर कसने का साधन मेरे पास है, ऐसा आप समझ गए क्या ? आपका अभिप्राय चाहे कैसा भी हो, आपने प्रश्न पूछा है उसके बारे में बिना छिपाए ही अवगत कराना मेरा धर्म है । इसलिए यहाँ इस विषय में कुछ वाक्य लिखता हूँ । इसमें से गुणों को ही चुन लीजिए, दोष को छोड़ दीजिए ।

'सत्संग' एक प्रकार का भगवदनुग्रह है । इसलिए परमेश्वर से ही 'हे भगवान् मुझे सत्संग दो' ऐसा आर्त्त होकर प्रार्थना करनी चाहिए । यह कोई जरूरी नहीं है कि हम सीधा भगवान् को देखे हों । बस परमेश्वर यहीं विद्यमान है, ऐसा विश्वास करके प्रार्थना करनी चाहिए । सत्संग उपलब्ध होने तक गीता, विष्णुसहस्त्रनाम इत्यादि सच्छास्त्रो को यथामति पढ़ते रहना चाहिए । **गीता में स्थितप्रज्ञ, भक्त, त्रिगुणातीत इत्यादि नामों से सत्पुरुषों के लक्षण कहे गये हैं । उसका पारायण करते हुए अपनी बुद्धिशक्ति के अनुसार अर्थानुसंधान करते रहने से अवश्य सत्पुरुषों के दर्शन हो जाएंगे ।**

पुण्यवश से सत्संग प्राप्त होने पर तत्क्षण उसका लाभ उठाने के प्रयास करना सात्विकता का संकेत है । परन्तु पापवासना से महात्माओं की परीक्षा करने की बुद्धि हमारे में उत्पन्न होती है, फिर भी परीक्षार्थ सत्संग करना भी व्यर्थ नही है, क्योंकि जो पुरुष यथार्थ में भगवद्भक्त हैं, वह हमको कौन परीक्षा कर रहे हैं, इसके बारे में सोचते नहीं । इकट्ठा कर के किनारे में फेंकी गई कस्तूरी जैसे महकती है वैसे ही अपने संग के फल को दूसरों को – 'मैं सत्पुरुषों की सेवा कर रहा हूँ' ऐसा दर्शाने के लिए सत्संग करना भी सप्रयोजन है, ऐसा समझना चाहिए क्योंकि शुरु–शुरु मे की जाने वाली दिखावे की सेवा भी धीरे–धीरे वास्तविक सेवा के रूप में परिणत हो जाती है ।

जो पुरुष भगवान् का गुणगान करते हुए भी स्वयं काम, क्रोध, लोभ के वश हुए जैसे गोचर होते हैं, वे वास्तव में महात्मा होते हुए हमारे पापवश सदोषयुक्त दिखाई पड़ते होंगे, अथवा ठग भी हो सकते हैं । साधकजनों को वैसे लोगों की

सेवा करने से अच्छा जो हमको सचमुच साधु की तरह दिखते हैं, उनका ही सेवन करना उचित है, क्योंकि पहले वर्ग वालों में दोष देखकर उनमें अनादर हो सकता है । अथवा स्वयं दोष का ही अनुकरण करना आरंभ हो सकता है । **मुख्य रूप में जिस महात्मा के नाम श्रवण से, जिसका दर्शन होने से, जिसका वचनामृत सुनने से भगवान् की स्मृति होती हो, एक प्रकार के नये आनंद का उफान आ जाए वैसा महात्मा ही साधुपुरुष है ।** उनके संग से हमको अवश्य लाभ होता है । जो परमार्थ के लिए सर्वत्याग किया हो, अथवा समय आने पर सर्वत्याग करने के लिए तैयार हो, जिस महात्मा की वाणी, रहन–सहन में दैवीसम्पत्ति का लक्षण चमक रहा हो, वैसे महात्मा को अनिवार्य रूप से हमारी साधना के लिए मार्गदर्शीरूप में चुनना चाहिए । हमारी पापवासना के कारण उनमें अनुपस्थित कुछ दोष हमारे मन में भासित हो सकते हैं, परन्तु यहाँ सूचित मुख्य लक्षण गोचर हुआ तो उन (दोषों) को नजरअंदाज (अवहेलना) करना चाहिए । **मुख्य रूप से परमेश्वर की तरफ हमको खींचने वाला ही साधु है । विषयों की ओर आकर्षित करने वाला ही असाधु पुरुष है । जो शिष्यगुणों से युक्त है, उनको अवश्य ही सत्संग प्राप्त होता है ।**

***

22–सम्पूर्ण जीवन ही ईश्वर की पूजा हो जावे (मई 1949)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

नआपके द्वारा लिखित पत्र प्राप्त होकर दो–तीन महीना व्यतीत हुआ । तुरंत उत्तर नहीं दे पाया, इसके लिए क्षमा चाहता हूँ । प्रातःकाल एक घंटा भगवत्–पूजा, सायंकाल पंद्रह मिनट मंगला आरती के लिए–इतना छोड़कर अन्य शेष समय पूर्ण रूप से व्यवहार में ही व्यर्थ हो रहा है । ऐसी परिस्थिति मे मुझे

कौनसा साधन उपलब्ध हो जाएगा ? सो आपने प्रश्न किया है । इस प्रकार के प्रश्न से युक्त अन्य कुछ और कागज मुझे प्राप्त हो गये हैं । मेरी भावना यही है कि इस समय जनता के अधिकांश काल को व्यवहार ही निगल रहा है । इसके लिए यह पत्र निदर्शन है ।

सोचते हैं कि हम जो घंटों के हिसाब से व्यवहार में परिश्रम करते हैं, उसके अनुरूप सम्पादन भी होता है– यह एक गलत समझ है क्योंकि हमें मिलने वाला प्रतिफल हमारे श्रम के अनुगुण नहीं रहता है । ईश्वर के अनुग्रह के अनुरूप रहता है । हमारा कर्तव्य इतना ही है कि काम करना । उसके लिए प्रतिफल देकर हमारा योगक्षेम रखने का कार्य ईश्वर का है ।

केवल भगवान् की पूजा करने के लिए आपके पास कालावकाश है । अधिक परमार्थ साधना के लिए भी कालावकाश नहीं है । इस विषय को ज्यों का त्यों स्वीकार करके यह उत्तर लिखता हूँ, देवपूजार्थ आवश्यक फूल, तुलसी, गंध, धूप, दीप – इत्यादि सामग्रियों में भी आप ईश्वरसम्बन्ध जोड़ने का अभ्यास करें आपके आँगन के अल्प भाग में सुंदर पूजा योग्य फूलों के पौधे लगाकर, आप ही उसके लिए पानी दीजिए, परिवारवालों को भी उस कार्य में आदर उत्पन्न कराइए, इस प्रकार परमेश्वर के स्मरण के लिए अवकाश की कल्पना करें । मनुष्य जीवन किस प्रकार होना चाहिए – इसके लिए फूलों के दर्शनमात्र से हम लोगों को एक सुंदर संदेश प्राप्त हो जाएगा ।

फूलों की जीवनी अत्यल्पकाल रहती है, परंतु वे जितने समय बने रहते हैं, उतने समय तक अपने मुख को उल्लास से खिलाकर अपनी संतोषरूपी सुगंधी को चौतरफा फैलाते रहते हैं । **''निर्दुष्ट, आरोग्ययुक्त, सौंदर्य से परिपूर्ण, परिमल (सुगंधी) महक रहा जीवन ही ईश्वर का अनुग्रह है ''** यह संदेश सबके लिए सर्वदा देते रहते हैं । फूलों के जैसे ही हमारा शरीर और मन भी सहज प्रकार से हमारे मूल स्थान जो परमेश्वर है, उनके संकल्प के अनुरूप हो

जावे, वैसे निर्मल एवं परिशुद्ध करना चाहिए । हम जो लाये हैं उन फूलों को परिशुद्ध भावना से ईश्वर की पूजा के समय अर्पण करना चाहिए । उस अर्पणकाल में – ''हे देव, इस हृदय को तुमको अर्पण कर रहा हूँ, मेरे पास कुछ भी स्वातन्त्र्य नही है । तेरे संकल्प के अनुरूप मैं जीवनयापन करूँ, ऐसा मुझे बनाओ कि मैं सर्वदा आपमें रहते हुए आपके अनुग्रह से सुख–शांति प्राप्त करके आसपास के लोगों को भी सुख–शांति का मार्गदर्शन करूँ, ऐसा अनुग्रह करो'' इस विधि से मन में प्रार्थना करते रहना चाहिए ।

इसी प्रकार जो धूप–बत्ती हम परमेश्वर को अर्पण करते हैं, वह भी हमारे जीवन का संकेत होना चाहिए । कंजूसी करते हुए इस छोटी सी अगरबत्ती को जलाकर दीवार के कोने में लगाने के अभ्यास को छोड़ देना चाहिए । दशांग चूर्ण को अंगार में रखकर सुगंधित धूप को अर्पण करने की परम्परा हृदय की औदार्यबुद्धि को बढ़ाती है । **हम और आसपास के प्राणियों को भी परमेश्वर का दयामय धूप के द्वारा हो रहा सम्बन्ध को भी स्मरण कराता है ।** भगवान् के सामने जलने वाले घी के दीपक को देखकर **स्वयंप्रकाशरूप परमेश्वर से चेतनरूप हम सब आए हैं और हमारी जीवनज्योति सुख–शांति से अन्वित होकर आगे बढ़ रही है, इसके लिए भक्ति नाम का घी ही मूल है''** इस बात की याद आनी चाहिए ।

हम जो तैयार कर रहे हैं वह भोजन हमारे स्तर के अनुरूप होना स्वाभाविक है, **परन्तु उस अन्न को परमेश्वर को अर्पण करके उनके प्रसादरूप में स्वीकार किया तो उसका स्वाद दोगुना हो जाता है ।** उससे भूख मिटने के अलावा तुष्टि, पुष्टि, आरोग्य और चित्त शुद्धि एवं जीवन में जो व्यवहार हम कर रहे हैं, **वह सब भगवान् की सेवा है,** ऐसी भावना भी हम लोगों को प्राप्त हो जाती है ।

भागवत में एक वचन है ''हे भगवन्, तुम्हारे लिए अर्पित फूल, गंध इत्यादियों

के सेवन के द्वारा हम तुम्हारी माया को जीतने की क्षमता प्राप्त करें'' इस वाक्य के अभिप्राय को हम सबको ठीक–ठीक याद रखना चाहिए । इस लोक में उत्पन्न वस्तुओं में श्राव्य शब्द, सुखप्रद स्पर्श, सुंदररूप, जिव्हा को आकर्षित करने वाला स्वाद, नाक को वश रखने वाली परिमल–सुगंधी, यह सब मनुष्य के लिए ही है– ऐसी भावना आजकल लोगों में तेजी से बढ़ रही है । पंचभूत से बनी प्रकृति को दास बनाकर ही मनुष्य को सुख लूटना चाहिए – इस प्रकार अनेक लोग विश्वास करते हैं । परंतु यहाँ हमारे धोखे में फँसने की संभावना ही अधिक है, **क्योंकि यथार्थ में प्रकृति परमेश्वर के वश में है ।** केवल उनके अनुग्रह के द्वारा ही हम इह–पर सुख के लिए आवश्यक सामग्री को भी प्रकृति से प्राप्त कर सकते हैं । परंतु जब हम परमेश्वर को विस्मरण करके अहंकार की पूजा आरंभ करते हैं, तब वह प्रकृति ही माया बनकर हम लोगों को गलत रास्ते की तरफ खींच लेती है । तब यहाँ हमको इह सुख के लिए आवश्यक सामग्री भी उपलब्ध नहीं होती । मिलने पर भी उससे हमको जो उपभोग प्राप्त होना चाहिए था, वह गायब हो जाता है ।

आप प्रातःकाल जो पूजा कर रहे हैं, उसको नित्य व्यवहार के लिए संकेत बनाइए । आप चाहे किसी भी व्यवहार में लग जाइए, वहाँ आपको उपलब्ध होने वाली सामग्री और सौकर्य भी परमेश्वर की आराधना के लिए उपकरण मात्र है । इतना ही नहीं **आपका सम्पूर्ण जीवन ही ईश्वर की आराधना है – इस प्रकार सतत भावना करिए ।** आपके लिए आवश्यक जो सुख–शांति का भोग है, वह तो ईश्वर को अर्पण करके उससे प्रसादरूप से प्राप्त भोग है– ऐसी भावनासंतान को निरंतर चलाते रहिए । इसके अतिरिक्त और किसी भी साधना की आवश्यकता नहीं है ।

***

23–विवाह का लक्ष्य (जून 1949)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका विवाह के विषय को लेकर लिखित पत्र प्राप्त हो गया है । आप जैसे और दो–तीन युवक लोग भी इसी विषय में प्रश्न लिखे हैं, सबके प्रश्नों को मिलाकर एक ही में उत्तर लिखा हूँ । इसको पढ़कर ग्राह्य जो है, उसको स्वीकार करें । इस विषय में और कुछ जानना चाहते हैं, तो लिखिए, यथाशक्ति उत्तर लिखूँगा ।

विवाह को व्यवहार एवं परमार्थ इन दो नेत्रों से देखना चाहिए । परमार्थ में व्यवहार भी अंतर्गत हो जाता है, इसलिए इन दोनों में कोई विरोध नहीं है, ऐसा मेरा मत है । विवाह का क्या लक्ष्य है, इस प्रश्न के बारे में विचार करना अत्यावश्यक है । एक ने लिखा है, हमारे पिताजी वृद्ध हो गए हैं । उनकी आँखों के सामने ही मेरा विवाह होवे, ऐसी उनकी इच्छा है । यह विवाह के लिए उचित कारण नहीं है। क्योंकि विवाह कौन कर रहा है ? बाप या बेटा ? क्या मुझे शादी की आवश्यकता है ? विवाह के अनंतर इस विवाह के द्वारा सुख प्राप्ति इह जीवन में भी क्या संभव है ? इसके बारे में विचार किये बिना केवल पिताजी के दबाव के कारण या लड़की का परिवार, समीप के रिश्तेदार हैं, इसलिए मना करना ठीक नहीं– इस हेतु से–विवाह के लिए स्वीकृति देने से क्या गति होगी ? विवाह करना इह लोक में सुख प्राप्ति करने के लिए और परलोक में सद्गति प्राप्त करने के लिए जो धर्म करना चाहिए, उसके सहायक के रूप में पत्नी को संपादन करने के लिए ही है । इन दोनों प्रयोजन के बिना ही जो विवाह किया जाता है, वह तो–सर्कसवाले बहुत कम मूल्य में बिकाऊ शेर को खरीदते हैं, उस व्यापार के समान है, ऐसा मेरा अभिप्राय है ।

दम्पत्तियों के बीच में अधिक से अधिक आनुगुण्य होना चाहिए–इस बात को लक्ष्य में रखकर ही पुराने लोग विवाह को सम्पन्न करते थे । कुल, शील, चारिष्य, आरोग्य, विद्या, रूप, धनसम्पत्ति, इन सबकी एक–एक करके परीक्षा करके ही वे विवाह के लिए प्रयास करते थे । उसमें भी वर विवाहार्थ योग्य आयु प्राप्त होने के पश्चात् कन्यार्थी बनकर अपने इष्टजनों के द्वारा जहाँ–तहाँ अन्वेषण कराकर योग्य कन्या को विवाह के लिए चुन लेता था । कतिपय संदर्भो में कन्या के लिए वर के द्वारा प्रदत्त धन को माता–पिता ग्रहण करने का रिवाज भी देखा जाता था, परंतु इस पद्धति से लड़की को बेचने का पाप लगता है, ऐसा धर्माशास्त्रकार स्पष्टरूप में निन्दा किये थे । इतना नहीं वस्त्र–आभरण को लड़की को देकर दूल्हे के द्वारा दिये गये धन को भी लड़की को ही देकर योग्य वर को दान करना उत्तम विवाह है। ऐसा शास्त्रकारों ने विधान किया था ।

किन्तु आजकल होने वाली विवाह प्रथा विचित्र हो गयी है । उसने (प्रथा ने) इह–पर के लिए जो साधन हैं, उन विचारों को सम्पूर्णरूप में त्याग करके किये जाने वाले एक विलक्षणरूप व्यापार का रूप धारण कर लिया है । कन्यादातृजन, लड़का पढ़ लिखकर पास हुआ या नही, उसके माँ–बाप भारी धनवान हैं अथवा बड़ी सरकारी नौकरी में हैं या नहीं ? इन दो प्रश्नों का ही मुख्य रूप में उत्तर ढूँढते हैं। वर पक्ष वाले (इसमें वर भी शामिल है), कन्या के मातृ–पितृ वर्ग के बारे में वे 'वरदक्षिणा' (दहेज) के नाम से कोट, पैंट, कीमती वस्त्र, मुकुट, चाँदी के बर्तन, गाड़ी, घड़ी (सेलफोन, टीवी) आदि विलासमय वस्तुओं को दे सकते हैं क्या ? इन प्रश्नों का उत्तर चाहते हैं । बस, इन प्रश्नों का सकारात्मक उत्तर मिल गया तो तुरंत ही विवाह के लिए तैयारी शुरू हो जाती है । कुण्डली दिखाना, लड़की को परिवार वाले देखना, लड़की से थोड़ा कुछ भजन, गाना सुनना यह शास्त्र भी कहीं–कहीं प्रचलन मे है, लेकिन लड़का आरोग्य, विद्यादि से संपन्न है क्या ? कन्या व्यवहारज्ञान, कुलशील से युक्त है क्या ? धर्मपूर्वक

इह जीवनयापन के लिए दम्पत्तियों को आवश्यक आनुगुण्य दोनों में विद्यमान है क्या ? इन प्रश्नों के लिए कोई भी उत्तर पूछता ही नहीं । फिर विवाह से कैसे सुख–शांति प्राप्त हो जाएगी ?

मैं समझता हूँ कि ऊपर कहे गए मेरे अभिप्राय से आपके प्रश्नों के लिए सामान्य रीति से उत्तर प्राप्त हो गया होगा । परंतु एक प्रश्न के लिए स्पष्ट रीति से उत्तर देना आवश्यक है, ऐसी मेरी भावना है । वरदक्षिणा (दहेज) नामक घूस के लालच में फँसकर कदापि कन्या स्वीकार न करें । तब आपके माता–पिता आपको उतने धन के लिए ससुराल पक्ष को बेचने वाले बन जाते हैं । तब आपने कन्या के साथ विवाह नहीं किया, बल्कि उतने पैसे के साथ विवाह कर लिया है, ऐसा हो जाता है । कन्या पक्ष वाले गत्यंतर न होने के वास्ते कर्ज–ऋण करके धन देने पर भी आपके विषय में जो गौरव (सम्मान) होना चाहिए था, उसका रंग फीका पड़ जाता है । आपको स्वतंत्र जीवन का धैर्य प्राप्त नहीं होगा, उसके बदले ससुर के पोषण के द्वारा जीने की नीच भावनारूपी गाँठ आपको लग जाती है । कितना धन देने मात्र से जीवनभर के लिए पर्याप्त हो जाएगा ? चाहे दाम्पत्य सुख हो, चाहे धर्म ज्ञानादि हो, कदापि रूपयों के द्वारा खरीदी करना संभव नहीं है ।

सबसे बढ़कर हमारी सनातन वैदिक धर्मदृष्टि से विवाह का अवलोकन करना चाहिए । उस दृष्टि के अनुसार विवाह तो यथासंभव धर्मार्थ काम का सम्पादन करने के लिए ही है, इसलिए धर्म विरुद्ध अर्थ, काम दृष्टि से कभी भी विवाह के लिए अंगीकार न करें । आपके घर–परिवार वाले सभी लोग, आस्तिकबुद्धि वाले होने के कारण से और आप मुझे बुद्धिवाद के लिए अनुरोध करने के कारण से भी इन स्पष्टोक्तियों को लिखा हूँ । यह बात कहना आवश्यक नहीं है कि – कुछ भी हो अपने पुरुषार्थ साध के लिए आप ही जिम्मेदार हैं । इस विषय में आपकी स्वबुद्धि ही अधिक प्रधानता रखती है । ***

24–अनुष्ठान (अप्रैल–1964)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपके द्वारा पूछे गये प्रश्न का उत्तर देना थोड़ा कठिन पड़ रहा है । इस घोर कलियुग में लोगों में पापवासना ही बढ़ रही है । यह बात सही है कि सामूहिक जप, होम, भजन इत्यादि करना बुद्धिशुद्धि और भक्तिवृद्धि का कारण बनता है फिर भी सामूहिक अनुष्ठान के विषय में सतर्कता बरतनी चाहिए । उस तरफ आपको अवश्य ध्यान रखना चाहिए, ऐसा मेरा नम्र निवेदन है ।

सभी अनुष्ठान पकड़ में न आवे इतना बड़ा नहीं होना चाहिए । अर्थात् अपनी शक्ति के अनुसार होना चाहिए क्योंकि सामर्थ्य से बाहर होने पर नियमानुसार चलना कठिन पड़ता है । अनुष्ठान में भाग लेने वाले सभी आस्तिक होने चाहिए । अपने–अपने हिस्से के कार्य को श्रद्धापूर्वक सम्पन्न करने वाले होने चाहिए । साथ–साथ वे ऐसी बुद्धि जरूर रखें कि इसके द्वारा हम कृतार्थ होवें । इस बात को अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है कि इसके आयोजकों को अनुष्ठान के विषय में पूर्ण विश्वास होना चाहिए ।

जप, होम, अर्पण, आराधना, पारायण–इन सबका एक निष्ठा लक्ष्य होना चाहिए । यह बात सच है कि एक भगवान् ही अनेक देवताओं के रूप में प्रकट होकर भक्तों पर अनुग्रह करता है तथापि मेरा विश्वास है कि भिन्न–भिन्न देवताओं की आराधना एक साथ करने वालों का चित्त विक्षेप होगा ।

मंत्रपुरश्चरण में भी निर्दिष्ट संख्या के जप, होम और ब्राह्मण समाराधन का नियम है–ऐसा मंत्रशास्त्रज्ञ कहते हैं । इसलिए शास्त्रनियम के बिना जपानुष्ठान में हाथ नहीं लगाना चाहिए । इस बात को स्मरण रखना आवश्यक है ।

मंत्रहीन, विहित दक्षिणा रहित, सात्त्विक श्रद्धावन्त अनुष्ठाता की सहायता के बिना और पात्र लोगों को अन्नदान न करते हुए केवल बाह्य आडम्बर को ही प्राशस्त्य देकर, अविधिपूर्वक किया गया यज्ञ **नामयज्ञ** (दिखावे का यज्ञ) कहलाता है । यह आसुर अनुष्ठान है । उससे देवताओं को तृप्ति नहीं होती है । अनुष्ठान करने वालों को भी इससे चित्त शान्ति नहीं मिलती है । इन सब विषयों को लक्ष्य मे रखकर हितमित रूप में किये गये अनुष्ठान फलप्रद होते हैं ।

***

25–सात्त्विक मन (मई 1964)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आप जो लिखे हैं उसका अभिप्राय ज्ञात हुआ । किसी भी विचारप्रधान चर्चा में मन थक जाता है । जप, ध्यान आदि साधन में बैठ गया तो मन ऊँघने लगता है । इसके लिए क्या परिहार है ? कृपया समझाइये ।

जब तक मन सात्त्विक स्तर तक नहीं पहुँचता है तब तक तत्त्वविचार या जप, ध्यान आदि साधन हर्गिज ही अच्छा नहीं लगने वाला है । **इसके लिए यही परिहार है कि पहले तमोगुणों को हटाने वाली साधना में मन को लगाना चाहिए ।** शरीर प्रधान नमस्कार, साधुसेवा, देवालय आदि में यथाशक्ति सेवा करना इत्यादि कार्यो मे लग जाना चाहिए । माँ–बाप, गुरुजन और बुजुर्ग लोगों की सेवा करके पुण्य सम्पादन करना आरम्भ कर दीजिए ।

वाक्–प्रधान सामूहिक भजन, नामसंकीर्तन इत्यादि साधना करते रहना चाहिए । आपको संगीत की जानकारी नहीं है । अतः नामकीर्तन रूप भजन में ही निरत होना अच्छा है ।

पुराणश्रवण काल में भगवल्लीला और मुख्यरूप में भगवान् के द्वारा किये गये भक्तोद्धार संबंधित कथा का श्रवण करना चाहिए । भगवद्विभूति और साधु

संतों में परमेश्वर की भावनारूप अभ्यास को प्रारम्भ करें । अनुभवी गुरुजनों के समीप थोड़ा समय बैठकर भक्तिप्रधान उपदेश सुनना चाहिए । इस प्रकार अभ्यास करने पर आपका मन सात्त्विक स्थिति की तरफ ऊपर उठने लगता है । तदनन्तर आध्यात्मिक विचार में भी अभिरुचि उत्पन्न होती है । **कदापि वाद-विवाद में न फंसें ।** नामजप को जोर से ही करने का अभ्यास रखिए । शुरूआत में मानसिक या उपांशु जप की उलझन में नहीं फंसना चाहिए ।

''हे परमेश्वर ! ऐसा अनुग्रह करो कि मन आपमें स्थिर हो जावे '' । ऐसी प्रार्थना प्रतिनित्य करें। समय पर सब कुछ ठीक हो जायेगा ।

***

26-ज्ञान के लिए साधन (जनवरी 1961)

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र प्राप्त हुआ । अभिप्राय ज्ञात हुए । परमार्थ ज्ञान के लिए अत्यन्त सुलभ उपाय क्या है ? ज्ञानी लोग अपनी सेवा करने वालों को मात्र तत्त्व समझाते हैं क्या ? यही तो आपका प्रश्न है ।

जैसे इन्द्रियों के द्वारा विषयों को जानते हैं, वैसे ही पुस्तक आदि के उपयोग से ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । ऐसा विश्वास ही इस प्रकार के प्रश्नों का आस्पद है यथा विषयेन्द्रियसंयोग से-शब्दादि ज्ञान प्राप्त होता है वैसा आत्मज्ञान भी एक वृत्तिरूप ज्ञान नहीं है । यद्यपि अशरीर, अद्वितीय विज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मा ही हमारी आत्मा है फिर भी ''हम लोग शरीरेन्द्रिय सम्बन्ध वाले हैं'' । **इन्द्रिय मन** की सहायता से ज्ञान अर्जित करके साधन विशेष से सुख प्राप्त करना है, वैसे अज्ञानी, परिच्छिन्न संसारी हम हैं''- इस प्रकार के अज्ञान से दूर करके हमारे स्वरूप में ही स्थिर होने को **आत्मज्ञान** कहते हैं ।

आत्मज्ञान के लिए बाधा शरीर आदि में अभिमान रूप अज्ञान मात्र है ।

अत: इस अभिमान की निवृत्ति के लिए सर्वप्रथम हमें सब निवृत्ति धर्मो को अपनाना चाहिए । शौचाचार के उल्लंघन का कारण भी शरीरादि अभिमान ही है । मैं सत्कुल–प्रसूत हूँ, धनवान, रूपवान युवक हूँ इत्यादि अभिमान परित्याग करने का प्रयास शुरु करना चाहिए । मेरी बुद्धि तीक्ष्ण है इसलिए किसी के भी उपदेश की अपेक्षा के बिना ही मैं तत्त्वग्रहण कर सकता हूँ–' यह दुरभिमान है । मै महाधर्मिष्ठ हूँ, अध्ययन, कर्मानुष्ठानादि साधन से सम्पन्न हूँ–यह अहंकार है । ये सब दूसरों को नीचा दिखाने में और अपने धार्मिकत्व और ज्ञान को दूसरों के सामने प्रस्तुत करना रूप दाम्भिकता के लिए अवकाश देते हैं । इस प्रकार का बर्हिमुख व्यक्ति शरीरेन्द्रियातीत तत्त्व को कैसे ग्रहण कर सकता है । सब में किसी न किसी दोष को देखने की बुद्धि जिसमें है उसको तत्त्वदर्शी ज्ञानी से ज्ञानमार्ग का ग्रहण करना कैसे संभव है ? **ज्ञानीजन कभी भी यह इच्छा नहीं रखते हैं कि लोग मेरी सेवा करें ।** ज्ञानी तो वही है जिसने अमानित्वादि गुणों को स्वभाव से ही जीवन में बैठाया है, अन्तर्मुख है, आत्मरत है । वैसे आचार्यजनों की उपासना करने से ही उनके स्वाभाविक मनोधर्म का अनुकरण करने का सुयोग उपलब्ध होता है ।

सर्वत्र भगवद्भावना करते हुए गुण ग्रहण करने वाले–भक्त महाशय को ही ''यह आचार्य है इनके उपदेश से मैं तत्त्व को समझ सकता हूँ, ऐसा विश्वास उद्भव होता है । केवल उसीमें शास्त्रोक्त अन्तर्मुखत्व का मर्म स्फुरित होता है । ज्ञाननिष्ठ आचार्यो की सेवा से और उनके अनुसरण से भी आत्मा में ही आत्मबुद्धि होती है ।

सर्वत्र फैले हुए प्रकाश में संचार करते हुए भी प्रकाश क्या है ? इस बात को न जानने वाले मूढ़ के अनुरूप आत्मचैतन्य प्रकाश से ही सर्वव्यवहार करते हुए भी अभिमान, दम्भ, दर्प, मद, मात्सर्यादि का बाजा बजाते हुए जो बहिर्मुख हो चुका है वह आत्मानुभव से वंचित है । उसके लिए शरीर, इन्द्रिय, मन जो

ज्ञानसाधन होना चाहिए वही उस ज्ञान के लिए बाधा बन गए हैं । स्तब्ध– जो बड़ों की सेवा नहीं करते हैं उसको तो शरीर ही बाधा है । इस प्रकार आत्मज्ञान के लिए त्रिविध बाधा है ।

जो श्रोत्रिय हैं, ब्रह्मनिष्ठ भी है, लोकानुग्रहरसिक भी है, वैसे आचार्य जी को प्रणाम करके उन्हीं की सेवा में ही अपने कार्यकरण को विनियोग करने वाले सात्त्विक साधक के शरीरेन्द्रिय मन इन तत्त्वान्वेषण, उन महनीयों के उपदेश का श्रवण, उसे युक्त प्रश्न पूछकर प्राप्त की गई विचार–श्रृंखला, तत्त्वार्थ का ध्यान – इन सबके द्वारा निवृत्ति मार्ग की तरफ झुकते हैं, फिर वह नित्यानुभवस्वरूप आत्मतत्त्व में ही स्थिर हो जाता है ।

***

27–तर्क का उपयोग (मई 1966)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

शास्त्र–विरूद्ध रूप में तर्क का उपयोग नहीं करना चाहिए ऐसा कुछ लोग कहते हैं । तब शास्त्र का क्या अर्थ है ? वही संशयग्रस्त होने पर उसके निर्णयार्थ तर्क की आवश्यकता है न ? आज के युग में शास्त्रवचनों को केवल अन्धविश्वासपूर्वक भरोसा करना कैसे संभव है ? इस विषय में आप अपने अभिप्राय को कृपा करके समझाइये – ऐसा आपने लिखा है ।

आपके प्रश्न के लिए सीधा एक ही उत्तर देना संभव नहीं है । इसलिए प्रश्न को भाग–भाग रूप में विभक्त करके उत्तर लिखता हूँ । सबसे पहले शास्त्र का क्या अर्थ है इस विषय को निर्धारित करना अच्छा है । यह बात आपको भी ज्ञात है कि **जन्मांतर, परलोक, पुण्य, पाप इत्यादि विचारों को लोकसिद्ध प्रमाणों के आधार से या तर्क की सहायता से दर्शाना नहीं होता है ।** वह सब विचार शास्त्रवाक्य के आधार से ही करना पड़ता है । बहुत सारे कार्यों को मनुष्य

को श्रद्धा विश्वास का अवलम्बन लेकर ही करना पड़ता है । **इन संदर्भो में श्रद्धा से अन्वित होने से लाभ है –** इसके लिए वृद्ध लोग संभावनायुक्तियों को तदर्थ स्थानों पर प्रस्थापित किए हैं । उन स्थानों में उससे अधिक युक्ति की अपेक्षा रखने वालों को श्रद्धा का ही परित्याग करना पड़ेगा ।

परन्तु अध्यात्मविद्या अनुभवगम्य है । अनुभवगम्य विषयों को समझाने वाले शास्त्रवचनों को केवल शास्त्रवचन के आधार पर विश्वास करना उचित नहीं है । उदाहरणार्थ शास्त्र में कहा गया है कि इच्छा–द्वेष, सुख–दुःख के वशीभूत हम लोग वास्तव में धर्माधर्म से अतीत परमेश्वर ही हैं । इस बात को कैसे मानें ? ऐसा कोई पूछे तो, यह प्रश्न कुतर्क से युक्त है ऐसा तिरस्कार करना उचित नहीं, मनुष्य द्वारा व्यवहृत लोक में अनेक स्थावर, जंगम प्राणी और अपने जैसे अनेक मनुष्य भी विद्यमान हैं– इस प्रकार का विश्वास हम सबको स्वभाव से है। व्यवहार करते–करते वही विश्वास प्रबल होता जा रहा है । ऐसी परिस्थिति में शास्त्र कैसे कह रहा है कि हम सब में एक ही आत्मा विद्यमान है ? क्या यह बात सही है ? ऐसी शंका कोई जिज्ञासु किया तो ''यह शास्त्रविरूद्ध तर्क है, इसलिए इस प्रकार चर्चा करना उचित नहीं'', ऐसा कहकर उसका मुँह बन्द करने का प्रयास करना ठीक नहीं । ऐसे संदर्भो मे उनके लिए सम्मत हो वैसे अनुभवाधार तर्क के द्वारा समाधान कहना गुरु का कर्त्तव्य है ।

और एक बात है– तत्त्वनिर्धारण की दृष्टि से जिज्ञासु लोग आपस में चर्चा भी करते हैं, उस समय विचारणीय विषय में अपनी शंका को एक जिज्ञासु को प्रस्तुत करना चाहिए । तब दूसरे जिज्ञासु को अनुभवसम्मत युक्ति से ही अपनी दृष्टि को समझाना चाहिए । यदि विचारणीय विषय साधना भाग से सम्बन्धित है तो स्वयं के द्वारा की जा रही साधना से जो अनुभव मिला है, उसका आधार बनाकर ही शंका का समाधान करना चाहिए । समाधान सही है या गलत ? इस बात को आगे होने वाले अपने अनुभव की कसौटी पर कसकर ही देखना चाहिए

यदि वह सिद्धांत सम्बन्धी विचार है तो सार्वत्रिक अनुभव के अनुसार ही प्रश्नोत्तर को चलाना चाहिए । इसको छोड़कर ''मैं क्या जानता हूँ इस विषय को? अमुक स्वामीजी या प्रख्यात पुरुष इसके बारे में जो अभिप्राय व्यक्त किये थे उसको न जानने के कारण से ही इस प्रकार तुम बड़बड़ा रहे हो–इस प्रकार कहते हुए वृद्धवचन या बड़े–बड़े ग्रंथों के वाक्य को उदाहरण देकर प्रतिवादी का मुँह बंद करना कदापि उचित नहीं है ।

इस प्रकार श्रद्धा, वाक्यधर्म से सम्बन्धित तर्क और अनुभवानुसारी तर्क–इनमें जो जहाँ सामंजस्य रखता है वहाँ उसका उपयोग करना चाहिए । यह सर्वसम्मत मार्ग है । केवल शास्त्रैकगम्य विषय को तर्क के द्वारा खण्डन करना या अनुभवैकगम्य विषय को शास्त्रवचनों से तिरस्कार करना मान्य नहीं है– ऐसा मेरा अभिप्राय है । इस विषय के बारे में और कुछ संशय है तो सूचित करें । मेरी समझ के अनुसार परिहार बतलाने के लिये प्रयत्न करूंगा ।

***

28–परमहंसपारिव्राज्य (नवंबर 1966)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र प्राप्त हुआ । आपको संन्यासाश्रम स्वीकार करने की इच्छा है–यह बात सुनकर खुशी हुई । जिस माननीय पुरुष को संसारचक्र से पार होने की उत्कट इच्छा है, उसे उस वैराग्योत्पत्ति दिन में ही परिव्राजक हो जाना चाहिए–इस प्रकार श्रुति कहती है। परन्तु आपके द्वारा कथित संसार की समस्या सुनकर यह कहना पड़ता है कि अभी आपमें मोक्षाश्रम की अर्हता नहीं आई है । एक पैर को संसार में और दूसरे एक पैर को संन्यास में रखना चित्त की परिपक्वता को नही दर्शाता है । इसलिए खूब विचार करके ही गार्हस्थ्य को छोड़ना चाहिए ।

धर्मपत्नी के लिए आवश्यक आनुकूल्य की व्यवस्था करके ही इस

आश्रमान्तर का संकल्प किया हूँ, ऐसा आपने लिखा है । यह तो उचित बात है । याज्ञवल्क्य जैसे महाज्ञानी भी परिव्राजक होने के पहले अपनी धर्मपत्नी मैत्रेयी और उसकी सपत्नी कात्यायनी को भी धन का हिस्सा देकर फिर जाने का निश्चय किये थे, ऐसा उपनिषद् में है परन्तु वहाँ मैत्रेयी विरक्त थी । सम्पूर्ण भूमि धन से पूर्ण होने पर भी क्या मुझे अमृतत्व की प्राप्ति होगी ? नहीं तो उस वित्त से मुझे क्या प्रयोजन है ? ऐसा उसने प्रश्न किया था । उसको ज्ञानोपदेश करके ही याज्ञवल्क्यजी गृह परित्याग किये थे । आपके गृहकृत्य की क्या स्थिति गति है । यह बात मुझे मालूम नहीं । यदि आपकी पत्नी की अनुमति है तो भी आपके मन में पूर्ण विरक्ति उत्पन्न हुई है क्या ? इसके बारे में भली प्रकार से विचार करना चाहिए ।

अब आपको उत्पन्न हुआ वैराग्य परिवार के निमित्त से है अथवा किसी मुश्किल स्थिति के कारण से है क्या ? यह क्या यथार्थ में वैराग्य है अथवा मन की ग्लानि ? इस बात को आपको सबसे पहले सोचना चाहिए । क्या गृहस्थ धर्म में ही रहते हुए चित्तशुद्धि सम्पादन करना आपको सुकर है या चतुर्थ आश्रमधर्म का परिपालन करते हुए तत्त्वविचार करना सुकर है ? इसके बारे में खूब विचार करना । क्या एकान्त में रहते हुए ध्यानादि करने की सहनशक्ति आपमें है ? शमदमादि, अमानित्वादियों के अभ्यास के बारे में स्थिर संकल्प आपमें विद्यमान है क्या ? यदि नहीं है तो आप जहाँ है वहीं रहते हुए कर्मयोग करना आपके लिए अति श्रेयस्कर है । भगवान् ने भी इसी प्रकार की आज्ञा दी है **''संन्यास-कर्मयोग दोनों मोक्षसाधन ही हैं'', परन्तु सामान्यों को कर्मसंन्यास से भी कर्मयोग ही अधिक सुकर साधन है ।**

और एक बात है । अधुनातन काल में गेरूआ पहनना, मुण्डन करना, दण्डकमण्डलु धारण या उसके बिना ही परमहंसपारिव्राजक कहलाते हुए स्वामी, आनन्द, तीर्थ, गिरि आदि नाम रखकर देश में पर्यटन (विचरण) करना संन्यास

का अर्थ है, ऐसी भावना है । इसके साथ-साथ काषायदण्डमात्रेण यतिः पूज्यो न संशयः इस विश्वास से कुछ लोग संन्यास वेशवालों का आदर सत्कार करते हैं । इस कार्य को लक्षित करके घूमने वाले वाग्मितापूर्ण भाषण देशभाषा या इंग्लिश भाषा में देते हुए अपनी कीर्ति का विस्तार करते हुए समाचार पत्रों में प्रसिद्धि पाने वाले संन्यासी भी बहुत हैं। बे जिम्मेदारी स्वेच्छाविहारियों को और विद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों को भी चेला बनानेवाले ख्याति, लाभ, पूजा के पीछे घूमने वाले अनेक संन्यासी लोग हैं ।

इस प्रकार का संन्यासी आप होना चाहते हो तो आपके लिए किसी हितवचन की आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार के संन्यासाश्रम को उत्पन्न करने वाली अनेक संस्थाएं हमारे देश में पर्याप्त मात्रा में हैं । **परन्तु यदि आपको वास्तव में मुमुक्षु होकर श्रवणमननादि करके कृतार्थ होने की इच्छा है तो जो यथार्थ में विरक्त होकर ब्रह्मनिष्ठ है, वैसे गुरु का आश्रय लीजिए ।** उनसे कहे गये प्रारम्भिक साधनों को करने के लिए कमर कसिए । उनके द्वारा की गई प्रथम परीक्षा में आप उत्तीर्ण हो गये तो आप अन्वर्थनाम से 'परमहंस' हो जायेंगे । दूध और पानी के मिश्रण से हंस केवल दूध का ही पान करता है। आप भी संसार के प्रतीयमान चमचमाहट रूप लीलाविलास में पागल न होते हुए वास्तविक आत्मानन्द को ही ग्रहण करने के लिए तैयार हो जाइए । श्रीमन् नारायण आपको सम्यक् दिशा में चलने के लिए प्रेरणा दें, ऐसी मैं प्रार्थना करता हूँ ।

***

29–आर्जव (सरलता, सादगी) (फरवरी 1967)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच गया । स्पष्टोक्ति से ही उत्तर को लिखने जा रहा हूँ । उत्तर पढ़कर आपको किंचित दु:ख भी प्राप्त हो सकता है फिर भी आप इस बात को स्मरण रखें कि आपका हित ही चाह रहा हूँ । इसलिए सावधानीपूर्वक पत्र पढ़ना चाहिए ।

क्या आपको निश्चितरूप से चतुर्थाश्रम प्राप्त करने की इच्छा है ? इस बात का आपको स्वयं विचार करना चाहिए । क्या आपको (वास्तविक) संन्यास चाहिए ? अथवा गैरिकवस्त्रधारण करके लोगों के द्वारा संन्यासी, परमहंस, परिव्राजक इत्यादि जयघोष सुनने की इच्छा है ? अथवा लोगों से कीर्ति–पूजा आदि सम्पादन करने का लालच है क्या ?

पारिव्राज्य का अर्थ वेशधारण नहीं है, वह विषय में उत्पन्न वैराग्य से होने वाला अन्त:करण का रूपान्तर है । क्या आप अभी गृहस्थाश्रम में रहते हुए उस आश्रम के अनुरूप सदाचार एवं कर्मों को यथाशक्ति मन:पूर्वक करते हुए आ रहे हैं ? शक्त्यनुसार वेदमंत्रों को सीखकर नियतकाल में संध्या–वंदन, ब्रह्मयज्ञ, देवता पूजा, इष्ट देवता का मंत्रजप इत्यादि कर रहे हैं क्या ? सचमुच आपको अनित्य कर्मों से पृथक् ज्ञानफल के संपादन में उत्कट अभिलाषा है क्या ? कुछ भी शास्त्रनिषिद्ध आचार आप नहीं कर रहे हैं न ? अब आपके अन्त:करण में कोई भी दुष्टविचार सिर नहीं उठा रहे हैं न ? धोखा, छल–कपट इत्यादि दुष्टभावों के लिए मन में अवकाश नहीं है न ?

सर्वकर्म को परित्याग करके आचार्यसेवा, वेदान्ताभ्यास, शमदमादियों का सामर्थ्य बढ़ाना, जप ध्यानादियों में ही काल व्यतीत करना – इन सबमें मग्न होने के लिए आप तैयार हैं क्या ? गुरु को प्रणाम करना, उनकी सेवा, समय देखकर प्रश्न पूछना, साधनों के मर्म को समझने का प्रयास, वे साधन चाहे

कितने भी कष्ट प्रतीत होवें, उसको अनुष्ठान में लाने के लिए पूरा प्रयास करना, मन की बात ज्यों की त्यों गुरुजी को अवगत् कराकर उनके कथनानुसार चलने के लिए तैयार हो जाना– इस प्रकार का आचरण ही ज्ञाननिष्ठा के लिए उपोद्बलक है । यह बात आपके मन में पक्की हो चुकी है क्या ? आपके अंदर कपट आदि कोई भी कल्मष नहीं है न ? इन सब बातों को भलीभांति विचार करके देखना चाहिए।

आपके पत्र में स्थित कुछ वाक्यों से यही प्रतीत होता है कि आपके गृहस्थ जीवन सम्बन्धी कुछ कमियाँ आपको चिन्ता के रूप में सता रही हैं । लगता है आपको वेदान्तमनन और मन को प्रत्यङमुख करने के लिए जो साधना करनी चाहिए, उसके बदले ख्याति लाभ के पीछे घूमने वाले आधुनिक संन्यासियों का अनुकरण करने की इच्छा हो रही है । क्या यह अंदाज ठीक है ? यदि हाँ, फिर तो इन सब बातों को दिल खोलकर अपने गुरुजी को कहना चाहिए और सबसे पहले इन्हीं दोषों का परिमार्जन करना चाहिए । **मन, वाणी, कर्म एक ही समान है तो उस साधन को आर्जव कहते हैं। आप किसी भी स्थिति में हों प्रथम इस आर्जव को ही अनुष्ठान में लाने के लिए पूर्ण प्रयास करिए । बस आर्जव के द्वारा कर्मयोग करते रहना सुपर्याप्त है । इससे संन्यासाश्रम समीप आ गया समझिए ।**

हितवचन कहने वाले कोई भी हितैषी हों, उनमें आपको कभी भी असूया या द्वेष नहीं होना चाहिए । आर्जव के द्वारा उनके हितवचन को सुनें । गलती स्वीकार करके साधना करना आरम्भ करें । इससे परमार्थ संन्यास का मर्म अपने वश में आ जाता है । आर्जव (सरलता, सादगी) रहित लोग कोई भी साधना करें दर्प, दम्भ, अहंकार, अनृत उनके पीछे लगा रहता है । उनके द्वारा किया गया विचार कदापि उनको ज्ञान नहीं दे सकता है। प्रतिदिन कीचड़ में कपड़ा डुबाते हुए कभी–कभी साबुन से धोने से क्या वह स्वच्छ होगा ?

क्या करें । अभी तक सद्गुरु नहीं मिले । इस प्रकार चिन्ता करते हुए ज्ञानी,

योगी कहलाने वालों के पीछे घूमना उचित नहीं । शिष्य गुणों को, उसमें भी आर्जव के द्वारा साधनानुष्ठान करने का अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिए । तब आप किसी भी रंग का कपड़ा पहने हुए हों कोई बात नहीं, आप परमार्थ संन्यास के रास्ते में ही हैं । इस दिशा में चलने के लिए परमेश्वर आपको अनुग्रह करे ।

***

30–सद्गुरु में आर्जव (अगस्त 1967)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच गया । वेदान्तशास्त्र को समझाने वाले सद्गुरु एवं अन्य शास्त्रोपदेशक गुरुजनों में एक मुख्य भेद है । हाँ, यह बात ठीक है कि दोनों गुरु कोटि में आते है । दोनों अपने– अपने शास्त्र के जानकार हो सकते हैं । परन्तु सद्गुरु केवल शास्त्रज्ञान वाला नहीं है तत्त्ववेत्ता भी है । इसी अभिप्राय से श्रुति में श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास ज्ञानप्राप्त्यर्थ जाना चाहिए, ऐसा कहा गया है।

श्री शंकर भगवत्पाद जी लिखते हैं कि **''ये सम्यग्दर्शिनः तैरुपदिष्टं ज्ञानं कार्यक्षमं भवति नेतरत् इति भगवतो मतम्''** (तत्त्वदर्शी के द्वारा कहा गया उपदेश ही कार्यकारी होता है अन्य नहीं । भगवान् भी **''यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम् एवं यास्यसि पाण्डव''** (उस तत्त्वज्ञानी का उपदेश समझने पर इस प्रकार मोह नहीं होता है) ऐसा कहते हैं । अतः जो शिष्यगुण से युक्त हैं वह सद्गुरु के अनुग्रह से तत्त्व को अनुभव में लाकर कृतकृत्य हो सकता है । **केवल आचार्यभास लोगों के उपदेश से या अधिक ग्रंथ राशि के परिचय से कदापि कृतकृत्यता प्राप्त नहीं होती है । सद्गुरु तो सद्ब्रह्म ही है । इसलिए शिष्य को मायारहित होकर श्रद्धा, तत्परता, इन्द्रियनिग्रह से संयुक्त होकर श्रवण करके कृतकृत्य होना चाहिए ।**

आर्जव की स्तुति –

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम् ।
उभे त्वेते समे स्याताम् आर्जवं वा विशिष्यते ।

समस्त तीर्थों में स्नान करने से जो फल मिलता है अथवा समस्त प्राणिमात्र के साथ सरलता से व्यवहार करने से जो फल मिलता है– दोनों बराबर हैं अथवा आर्जव (सादगी) ही उससे अधिक फल वाला है ।

***

31–पढ़ने योग्य पुस्तक (जनवरी 1968)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपके प्रश्न का समाधान विलम्ब से दे रहा हूँ । अब मैं गीता जयन्ती उत्सव की निरीक्षा में हूँ। उसका स्मरण करके ही उत्तर लिख रहा हूँ । जिसको संस्कृत भाषा का ज्ञान किंचितमात्र नहीं है, उसको भारत देश की संस्कृति का परिचय है– ऐसा कहने का धैर्य नहीं होगा । सबसे पहले संस्कृत भाषाभ्यास को पक्का कर लेना चाहिए । महाभारत में स्थित भगवद्गीता और रामायण में स्थित सुंदर काण्ड–इनको चुनकर पाठ करने का परिपाठ रखना चाहिए ।

आपको संस्कृत के ऊपर आदरभावना उदय होने के लिए रामायण, महाभारत कुछ अंश अवश्य पढ़ना चाहिए । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन पुरुषार्थों की तरफ लक्ष्य रखना ही भारत देश की संस्कृति का प्रधान लक्ष्य है । रामायण, महाभारत आज के दिन देशभाषा में भी उपलब्ध है । इतिहास–पुराणों में वेदार्थ को ही विस्तार करके जनानुराग के अनुकूल हो वैसा वर्णित है । **इसलिए जो अपने को भारत देश निवासी मानता है, उसको अवश्य ही इन ग्रंथों का अध्ययन करना चाहिए । जो अक्षरस्थ नहीं है वह कम से कम पुराण–श्रवण अवश्य करें ।**

समस्त भूलोक में प्रसिद्ध इतिहास रामायण, महाभारत ही हैं । इन ग्रंथों के सार को राम और कृष्ण नाम में निचोड़ करके रखा गया है । आज भी कुछ एक मंदिरों में इतिहास, पुराण आदि की वाचन परंपरा बरकरार है । पुराण श्रवण के द्वारा देशभक्ति और ईशभक्ति दोनों अंकुरित होकर विशाल वृक्ष हो जाता है । जो इह–पर में सुख–शांति की अभिलाषा रखते हैं, उन्हें इस लाभ को गंवाना नहीं चाहिए ।

***

32–सद्गुरु सेवा (जुलाई 1968)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र प्राप्त हुआ और अभिप्राय ज्ञात हुआ । एक व्यक्ति को ये महापुरुष हैं, वे बड़े साधु हैं, ऐसा बहुत लोग मानते थे । मैं भी उस व्यक्ति को श्रेष्ठ पुरुष मानने लगा । उसका अनुयायी बन गया परन्तु वे मुझे बीच पानी में ही छोड़ दिये अब मुझे क्या करना चाहिए ? तत्त्वबोधक, श्रेष्ठ प्रवचनकार– नाम से प्रसिद्ध लोगों ने उल्टा रास्ता पकड़ लिया तो उनके शिष्यगण अर्थात् अनुयायी लोगों की गति क्या होगी ? इधर खाई उधर शेर इस कहावत जैसे हमारी स्थिति हो गई है न ? तत्त्वविचार और साधनार्थ कैसे गुरु का सेवन करना चाहिए ? सच्चा गुरु आज भी विद्यमान है क्या ? ऐसा आपने पूछा।

शास्त्र द्वारा ही गुरु–शिष्य उपदेश का तत्त्व ज्ञात हो सकता है । वाग्वैखरी के द्वारा हो, मीठी– मीठी, चिकनी–चुपड़ी बातें और प्रवचन के द्वारा हजारों लोगों के चित्त को आकर्षित करना हो, शास्त्र व्याख्यानरूप पाण्डित्य प्रदर्शन से हो– गुरुजनों को पहचानना कदापि उचित नहीं है । भगवान् ने अर्जुन को उपदेश देते हुए ''उस ज्ञान को गुरुजनों को साष्टांग प्रणाम करके विनय से युक्त होकर समय देखकर प्रश्न करके और सेवा के द्वारा भी जानना चाहिए'' ऐसा

कहा है । परन्तु प्रश्न क्या है कि– यही तत्त्वदर्शी है ऐसा कैसे पहचानें ? सबसे पहले उपदेशक सदाचारी होना चाहिए । **जो शिष्टाचार का तिरस्कार करते हैं और लोकविरुद्ध आचार को अवलम्बन करते हैं वे कदापि तत्त्वदर्शी नहीं हो सकते हैं।** दूसरा लक्षण यही है कि सामान्यजनों के लिए आदर्श साधन विशेषों को स्वयं भी करते हुए और अपने समीप आने वालों को भी उन साधनों का उपदेश करने वालों को ही गुरु रूप में स्वीकार करने में भलाई है । जो लोग सत्कर्मानुष्ठान, पारायण, जप, ध्यान के रहस्य को समझायेंगे ऐसा कहते तो हैं, परन्तु खुद एक का भी पालन नहीं करते उनका विश्वास न करना चाहिए । ज्ञानीजन कृतकृत्य होने पर भी लोकसंग्रह के लिए किसी एक अनुष्ठान का पालन करते रहते हैं । श्रीकृष्ण भगवान् ने गीता में कहा है कि ''मेरे लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है, प्राप्त करने योग्य भी कुछ भी नहीं, फिर भी मैं कर्म करते रहता हूँ'' । इस बात को स्मरण रखना चाहिए ।

और एक बात है–जिसको हम सद्गुरु रूप में स्वीकार करना चाहते हैं वह पहले **सद्–गुरु होना चाहिए । सत् परमेश्वर का नाम है जो परमेश्वर की निष्ठा में ही कालयापन कर रहे हों, जो लोकवार्ता से दूर रहकर सात्विक बर्ताव करते हुए भक्ति, ज्ञान, वैराग्य के विचार में ही वार्तालाप करते हुए अपने पास आने वालों को भी परमेश्वर की तरफ प्रवृत्त कराते हों, वैसे लोगों को 'सद्गुरु' मान सकते हैं । राजनीति, व्यापार, सट्टा, वैद्यक, ज्योतिष, नित्यप्रयाण, विनोदियों का झुण्ड इसमें निरत है और बहुत ऊँची भूमिका वाले हैं, ऐसा लोक में प्रख्यात होने पर भी ऐसे लोगों से दूर ही रहना चाहिए ।**

तीसरी बात यही है कि वे कितना भी अच्छा भाषण, प्रवचन देते हों और उनके भाषण में साहित्य, अलंकार, कहावत युक्त वाक्य इत्यादि हों, इस कारण से उनके अनुयायी न बनें । उनकी बातों में क्या आपको विश्वास जागता है ?

उपदेश के अनन्तर तदनुरूप साधना करने से अपेक्षित अनुभव वास्तव में होता है क्या ? उनके द्वारा कथित सिद्धांत समझने पर आपका संशय परिहार हो गया है क्या ? आपका अज्ञान का पर्दा हटने लगा है क्या ? मन में शांति का अनुभव कर रहे हैं क्या ? इस बात का निर्धारण आप कर लीजिए । यदि हाँ फिर उसको गुरुरूप में स्वीकार कर सकते हैं । नहीं तो नहीं ।

मैं दीक्षा-मंत्र उपदेश करता हूं, अनुष्ठान आदि को तुम लोगों को समझाऊँगा ऐसा बहिरंग रूप में विज्ञापन करने वालों और ख्याति, लाभ, पूजार्थ शिष्यों की संख्या बढ़ाने वालों से दूर रहना ही अच्छा है । यदि आपके प्रश्नों का उत्तर मिल गया हो, उनके न बोलने पर भी आपके मन में शांति मिल रही हो तो अवश्य आप उसको गुरु रूप में स्वीकार कर सकते हैं ।

कैसा भी हो उनके परिचय के पश्चात् स्वल्पकाल के बाद वस्तुस्थिति को जानना चाहिए । अंतरंग, बहिरंग बर्ताव की भलीभांति परीक्षा करके उससे आपको जो अनुभव मिलता है, उसी के द्वारा निर्धारित करना चाहिए । भगवान् आपको शुद्ध सोने (सुवर्ण) जैसे गुरु को प्रकाशित करे । ऐसी मेरी अभिलाषा है।

***

33-रामायण और महाभारत (अगस्त 1968)

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपने जो प्रश्न पूछा है उससे मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ । सम्पूर्ण प्रपंच में रामायण-महाभारत ही अत्यन्त विशाल इतिहास ग्रंथ हैं । अत्यन्त पुरातन काव्यग्रंथ की दृष्टि से देखने पर भी ये दो ग्रंथ सब लोगों को अवश्य पढ़ने या श्रवण करके जानने योग्य हैं । अंग्रेजी भाषा में भी ये ग्रंथ पहले ही अनूदित हो चुके हैं । सुना जाता है कि रूस देश वालों ने भी नीति की दृष्टि से इस ग्रंथ को भाषान्तर कर लिया है । जब बात ऐसी है फिर ''रामायण खोलो मत'',

''**तुम्हारी** रामायण कौन सुनेगा''? इस प्रकार की मूर्खों की कहावतों को क्यों उदाहरण देते हैं आप? रामायण–महाभारत पढ़ने से भी आधुनिक इतिहास पढ़ना अच्छा है न? ऐसा आप क्यों पूछते हैं।

ऐतिहासिक पुरुषों का जीवन–चरित्र, विभिन्न देशों का इतिहास– ये सब अपने आपको देशाभिमानी कहलाने वाले लोगों के द्वारा लिखे गये ग्रंथ हैं। देश के इतिहास में राजा, राष्ट्राधिकारियों की वंशावली, उनके जीवन काल में घटित युद्ध, किस–किस देश भाग को जीता, कहाँ–कहाँ वे शत्रुओं से परास्त हो गये ये सब घटना लिखित है। उसका कालानुक्रम विवरण भी है। इन सब विवरणों को पढ़ने से अधिक लाभ या हानि होती है, ऐसा मैं नहीं कह सकता हूँ

स्वार्थपरायण लोगों के द्वारा लिखित ''इतिहास'' में बनावटी, काल्पनिक कथा भी है। ऐसे इतिहास देश–प्रतिदेशों के बीच परस्पर विद्वेष उत्पन्न कर रहे हैं। विद्वान् तत्त्वशोधक लोग भी कहने लगे हैं कि आजकल स्कूल में पढ़ाये जाने वाले इतिहास चरित्र में काल्पनिक कहानियों की अधिकता है।

रामायण, महाभारत में वास्तविक रूप में घटित कुछ घटनाओं को आधार बनाकर धर्म, नीति तत्त्व के रहस्य को बहिरंग करने का प्रयास किया गया है ये सब केवल कथा नहीं है, ये ग्रंथ वैदिक संस्कृति के तेज को पाठक वर्ग को दर्शाने वाले शाश्वत शिलाशासन हैं। रामायण के केन्द्रपुरुष श्रीराम हैं और महाभारत के श्रीकृष्ण। ये दोनों केवल देश के वीरपुरुष हैं, इस कारण से इन लोगों को कथानायक बनाकर अनेक कथाओं के जाल का कविलोग निर्माण नहीं किये हैं। वाल्मीकी जी मुनि हैं और व्यास जी ऋषि हैं। भगवान् के अंशपुरुष हैं, वे लोग श्रीराम और श्रीकृष्ण रूप भगवद्सार के रहस्य को अनुभव में बैठाकर ही लोगों को उपदेश किये हैं। सनातनियों के लिए राम–कृष्ण जपने योग्य नाम मंत्र हैं। श्रीराम और श्रीकृष्ण को कथानायक बनाकर उनके दिव्य चरित्र को मनमोहक रूप में ये ऋषिलोग प्रकाशित किये हैं।

हमारे बालकों को और बालाओं को भी रामायण, महाभारत के सार को उनकी आयु के अनुसार एवं मन के स्तर के अनुरूप प्रकाशित करें एवं इनका समस्त देश में वितरण करने से सनातनधर्मियों में देशाभिमान, हमारी संस्कृति में अभिमान, धर्म में आसक्ति, ईश्वरभक्ति और वेदान्ततत्त्व की जानकारी ये सब प्राप्त हो जाते हैं । पाश्चात्य लोगों का अनुकरण करने से हम सबका नीतिबाह्य होकर देश में अशान्ति उत्पन्न होने का खतरा भी टल जाता है ।

देश के नेताजन आधुनिक विद्याभ्यास में परिवर्तन लाने के बारे में सोच रहे हैं धर्मार्थकाम को समरस करने वाली विद्या युवकों को सिखाना चाहिए । इससे निश्चय ही इह–पर के लिए साधनरूप विद्या उपलब्ध हो जाती है । इस विषय में रामायण, महाभारत कितने हद तक सहायक हैं– इसके बारे में इन ग्रंथों को पढ़कर अर्थ ग्रहण किये हुए ज्ञानवृद्ध लोग ही समझा सकते हैं ।

रामायण सुनाते समय पौराणिक लोग एक वाक्य बोलते हैं ''सत्पुरुषों को स्वस्ति हो, सन्मंगल हो। वाल्मीकी रामायण में स्थित एक–एक श्लोक में कलिकल्मष हरण करने की शक्ति है'' इत्यादि । स्वार्थ के कारण लोगों में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मदमात्सर्य उद्‌भव हो जाता है । इसके फलरूप जनता में पापवृद्धि होती है । ये सब रामायण पाठ से निवृत्त होते हैं या नहीं, इस बात को उन पवित्र ग्रंथों के पठन–श्रवण के अनन्तर ही अनुभव से निर्धारित कर सकते हैं ।

***

34–रामकृष्णहरि (नवंबर 1969)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र प्राप्त हुआ । अभिप्राय भी ज्ञात हुआ । प्रतिवर्ष पंढरी (पंढरपुर) जाना, घर में ''रामृकृष्णहरि'' भजन करना, इतना छोड़कर अन्य कोई अनुष्ठान विशेषरूप से मैं नहीं जानता हूँ । क्या इसी के द्वारा मुझे परमगति हो सकती है

? ऐसा आपने प्रश्न पूछा है ।

यद्यपि अन्य सभी साधन वश में न होने पर भी अपूर्व पुण्यवश से आपको विठ्ठलदर्शनादि यात्रा और उस भगवान् का अत्युत्तम प्रादुर्भाव श्रीराम, श्रीकृष्ण इनका नाम संकीर्तन– इतना तो आपके वश में आ चुके हैं– इस बात को सुनकर मैं अत्यन्त हर्षित हुआ हूँ ।

त्रेतायुग में रामावतार हुआ । इसके द्वारा सत्य धर्म का रक्षण हुआ । द्वापर युग में कृष्णावतार के द्वारा फिर से धर्म संस्थापन हो गया । श्रीहरि इन दोनों अवतारों के द्वारा भक्तानुग्रह किये । कलियुग में श्री पाण्डुरंग विठ्ठल की यात्रा और उनके नाम संकीर्तन से भक्तानुग्रह होता है, यह बात तो आप जो भजन कर रहे हैं वह राम–कृष्ण–हरि मंत्र स्मरण दिला रहा है । ऐसा अवश्य ही विश्वास करिए ।

भगवान् की प्राप्ति के लिए कलियुग में नाम कीर्तन छोड़कर अन्य कोई सार्वत्रिक साधन है ही नहीं । इसके लिए कोई भी देश काल का नियम नहीं है। इस मंत्र को अखण्ड रूप में जप करने से सर्व पाप विनष्ट हो जाते हैं । चित्त शुद्ध हो जाता है, धर्म में श्रद्धा उत्पन्न होती है । भक्तिरस का स्वाद मन में बैठता है । गंगा किनारे रहते हुए कुआँ मैंने खोदा नहीं, इस प्रकार मूढ़ शोक करता है, उस प्रकार आप विचार न करें । अभी आप कर रहे यात्रा, मंत्रजप ही अवश्य आपका उद्धार करेंगे ।

***

35–श्रद्धा (जुलाई 1969)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

श्रद्धा से किये गये कर्म को ही फल मिलता है ऐसा बार–बार बतलाते हैं । इस लोक में कोई भी कर्म करे उसके लिए श्रद्धा अवश्य चाहिए, यह बात सच है । परन्तु जन्मान्तर में अथवा परलोक में स्वयं किये गये कर्म का फल मिलता है, ऐसी श्रद्धा करना कठिन पड़ता है न ? जो इस लोक सम्बन्धी विषयभोग का परित्याग करके लोकान्तर में होने वाले फल पर श्रद्धा करता है, उसको क्या पता वास्तविकता ऐसी न हो तो यहाँ उपलब्ध सुख त्याग करके मैंने धोखा तो नहीं खाया ? ऐसा संशय उत्पन्न होना स्वाभाविक है । यद्यपि मुझे शास्त्र और सत्पुरुषों के उपदेशों पर विश्वास है परन्तु कभी–कभी यह संशय भी सिर उठाता रहता है । क्या परलोक, कालान्तर में सम्भावित फलों के बारे में यहां जीते–जीते समझने का अवकाश है ? साधक को संशय–परिहार करके पूर्ण श्रद्धा प्राप्ति करने के लिए क्या करना चाहिए इसके बारे में अवगत् कराइये । ऐसा आपने प्रश्न पूछा है ।

श्रद्धा एक दैवी सम्पत् है, वह ईश्वर अथवा सिद्धपुरुषों के अनुग्रह से ही जीवन में उतरती है । परन्तु तर्कबद्ध प्रश्न को तर्कबद्ध रीति से उत्तर देना पड़ता है । इसलिए यहां कुछ वाक्यों को लिखता हूँ। **श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्** (गीता 4–39) (श्रद्धा से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है) ऐसा कहकर **अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति । नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मन:** (गीता 4–40) जो अज्ञानी है, श्रद्धाहीन है और संशयात्मा हो तो इस लोक में या परलोक में पुरुषार्थ नहीं मिलता है । उसको सुख भी उपलब्ध नहीं होता है । ऐसी भगवान् ने संशयग्रस्त की निन्दा की है । ज्ञान तो अभी यहीं

हमारे आत्मरूप भगवान् का स्वरूप ज्ञान होने के कारण उस विषय में संशय होने के लिए कोई कारण ही नहीं है । बच्चों को स्कूल में लौकिक ज्ञान होगा या नहीं, ऐसा संशय होने से कोई भी उनके विद्याभ्यास के लिए क्या परिश्रम करेंगे ? आपके कथनानुसार वैद्य, कृषि आदि में श्रद्धा होने के कारण से ही लोग औषध सेवन, हल जोतना आदि लौकिक कार्य में प्रयास करते हैं न ? इससे स्पष्ट होता है कि इसी प्रकार आत्मज्ञानार्थ योग्यता संपादन करने के लिए प्रयास करने वालों को अवश्य श्रद्धा चाहिए।

परलोक में अथवा जन्मान्तर में होने वाले कर्मोपासना–फल के बारे में कैसे विश्वास करें ? अन्य किसी को यह फल मिला है– इस बात को भी केवल श्रद्धा से ही मानना पड़ेगा क्या ? इस प्रकार प्रश्न उठना स्वाभाविक है । परन्तु इस विषय में भगवान् ने स्पष्ट रूप से कहा है कि **''अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् । असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह''** । (गीता 18–28) बिना श्रद्धा से किया गया हवन, दान तप अथवा अन्य कोई भी कर्म हो सब व्यर्थ है । उसका परलोक में भी फल नहीं, यहाँ भी नहीं । कर्म उपासना आदि का यहीं फल नहीं होता है, ऐसा ऊपर के कथनानुसार भासित होता है तथापि कर्म को श्रद्धा से करने वाले और उपासना को श्रद्धा–भक्ति से करने वालों को इसी जन्म में ही अन्त:करण में होने वाला संस्कार अनुभवगोचर हो जाता है । जैसे कालान्तर में होने वाली फसल के बारे में अंकुर मात्र से श्रद्धा हो जाती है वैसे यहां भी अवश्य श्रद्धा उत्पन्न होती है ।

जो शास्त्रोक्त विधान को नहीं जानते हैं उन्हें भी श्रद्धा से युक्त होकर अपनी–अपनी श्रद्धा के अनुरूप आराधना करने पर तदर्थ श्रद्धानुसार फल प्राप्त होता है। ऐसा भगवान् ने गीता के 17वें अध्याय में कहा है । उनसे किये गये कर्म में स्थित न्यूनातिरेक के लिए भगवन्नामस्मरण से प्रायश्चित्त होकर उस कर्मानुष्ठान में भी सद्गुण आ जाता है । ऐसा भगवान् ने ही कहा है । इसलिए मुझे लगता है

कि श्रद्धा के विषय में संशय करने के लिए कोई कारण ही नहीं है । भगवत्ग्रह से आपको इस विषय में श्रद्धा उद्भव होवे, ऐसी अभिलाषा है ।

***

36–मन के लिए शान्ति (जनवरी 1970)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपके पत्र में स्थित विषय ज्ञात हुआ । गाँव छोड़ दिया । नौकरी त्याग करके अन्य उद्योग अवलम्बन किया । तीर्थक्षेत्रों का सेवन भी कर लिया । एकान्त, निर्जन, गिरि–गुफा में भी कई महीने तप किया फिर भी मन में शान्ति नहीं है । कहाँ रहने से और किस प्रकार कालयापन करने से मन के लिए शान्ति उपलब्ध होगी यह विषय समझ में नहीं आया । मेरी शक्ति के अनुसार जीने का कोई जीवनक्रम है तो कृपया समझाइये, ऐसा आपने लिखा है ।

मनश्शान्ति स्थान परिवर्तन से या उद्योग बदलने से प्राप्त नहीं होती है । समस्त प्राणियों के आत्मरूप भगवान् है । उनके स्वरूप में ही शान्ति स्थित है जो उनका आश्रय लेते हैं, उनके लिए वह अवश्य उपलब्ध होती हैं । जल्दी–जल्दी स्थान, उद्योग, संनिवेश को बदलने से मन में अशांति ही होती है । चंचलता मन का स्वभाव है । वासस्थान या जीवनक्रम में बदलाव करने मात्र से शान्ति नहीं मिलती है । अशान्ति की जगह पर शान्ति कैसे मिलेगी ।

जिसके द्वारा मनोविक्षेप को आप समझ रहे हो वह साक्षी ही आपका आत्मरूप भगवान् है । तत्क्षण से शीघ्रातिशीघ्र भगवान् का नामकीर्तन, मंत्रपाठ, मानस पूजा इस प्रकार की साधनाओं का अवलम्बन करिए । इसके द्वारा परमेश्वर के समीप पहुँच जाते हैं । धूप में परेशान हो रहे लोगों को ठण्डा प्रदेश मिलने पर राहत मिलती है वैसे ही ऊपर कही साधना के द्वारा मन की चंचलता कम हो जाती है । विषय–वासनारूपी कल्मषता की न्यूनता हो जाती है

इससे अंतरंग निर्मल हो जाता है । आपकी आवश्यकता स्थानान्तरण अथवा जीवनक्रम परिवर्तन नहीं । सम्पूर्ण अन्त:करण के परिवर्तन की आवश्यकता है । उसके लिए आपके हृदय में सर्वदा विद्यमान भगवान् की शरण में जाना ही एकमात्र उपाय है । परमेश्वर का स्मरण आपके मन में आता रहे । तब क्रम-क्रम से आप समस्त दु:खों से विर्निमुक्त हो जायेंगे । भगवत्प्रसाद भी प्राप्त हो जायेगा ।

***

37-वैराग्य का मर्म (फरवरी 1970)

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपके द्वारा पूछा गया प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है । इह जीवन के लिए अनेक वस्तुएँ आवश्यक हैं । उन वस्तुओं में वैराग्य हो गया तो मनुष्य को क्यों परिश्रम करना चाहिए? मनुष्य को परलोक में अथवा जन्मान्तर में सुख का भरोसा करके इस जन्म में प्राप्त वस्तु और बन्धु परिवार में प्रेम रखना छोड़ना चाहिए, ऐसे मताभिमानीजनों का उपदेश देना कितना युक्ति-युक्त है । यही तो आपकी शंका है, हाथ में विद्यमान सोने को फेंककर दर्पण में दिखने वाले खजाने को प्राप्त करना मूर्खता है न ? यही आपका आशय है ।

परन्तु आपके द्वारा कथित कहावत किसके लिए अन्वय होती है । अपने सुख के लिए ही मनुष्य सम्पत्ति, पत्नी, बच्चे, पैसा आदि चाहते हैं न ? यदि यह बात सच है तो अपने स्वरूप और गति का विचार किये बिना ही 'मेरी है' ऐसी मानी हुई वस्तु के लिए ही जीवन व्यतीत करना दर्पण के भीतर दिखने वाला खजाने के लिए प्रयास करना नहीं तो क्या है ?

परमेश्वर ही सबकी आत्मा है, परमेश्वर का परित्याग करके जीवनयापन करने वाले ने विनश्वर दर्पण में दिखने वाले ऐश्वर्य पर विश्वास किया है- ऐसी

शास्त्र की घोषणा है । **परमेश्वर के बारे में उदासीनता अपने परमार्थस्वरूप में उदासीनता ही है।** बाह्य विषयों के प्रति रागद्वेष ही परमेश्वर में होने योग्य अनुराग के लिए बाधक है । व्यवहार में अपने को अथवा दूसरों को द्वेष करना चाहिए ऐसा कोई भी शास्त्र कहता नहीं परन्तु जिस विषय में जो प्रेम है वह परमेश्वर के प्रति होने योग्य प्रेम के अनुगुण ही होना चाहिए न कि उसके लिए बाधक । जिसको भगवान्! में अनुरक्ति नहीं है वह अपने परमार्थस्वरूप में ही अनुराग नहीं रखता है । सब कुछ आत्मार्थ ही प्रिय होता है । **आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।** इस बात को जो नहीं जानता है वह आत्महत्या कर रहा है– यही शास्त्रोपदेश का सार है ।

एक सच्ची घटना है –एक बुनकर मद्यपान का बहुत बड़ा व्यसनी हो गया था । एक दिन शराब पीकर पत्नी के हाथ से चाबी को बलात् छीनकर स्वयं बहुत परिश्रम से बनाई एक रेशम की साड़ी को पेटी से निकालकर उसमें मिट्टी का तेल उड़ेल कर आग लगाकर नाचने लगा । बाद मे जब नशा उतरने पर होश आया तो अपनी मूर्खता के लिए दीर्घकाल तक दुःखी हो गया । जैसे मद्यपान के अनुराग ने ही उस अज्ञानी के स्वार्थ में बाधा पहुँचाई वैसे ही **परमार्थ के लिए विषयासक्ति एक शक्तिशाली आतंक है । जब विषयानुराग का नशा कम होगा तब जीव को अपनी वास्तविक आत्मा परमेश्वर में परानुरक्ति उत्पन्न होती है।**

शास्त्र में सबके लिए विषय–वैराग्य का उपदेश नहीं है । जो परलोक में दीर्घकाल तक सुख चाहता है उसे इस लोक में ही देहादि के प्रति अति मोह को त्याग करके देहश्रमपूर्वक यज्ञादिकर्म करना पड़ता है । इसी प्रकार जिसको अनन्त शाश्वत परमार्थ सुख की इच्छा है उसको इस लोक के सुख और परलोक के सुख दोनों में वैराग्य उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है न ?

मेरे द्वारा दिये गये उत्तर का सारांश इतना है कि जो इस लोक में सुख चाहता है उसे स्वेच्छानुसार विरक्त होना चाहिए । जो परलोक में दुःखहीन सुख चाहता

है उसे इह लोक में उतने हद तक विरक्त होना पड़ेगा । इसी प्रकार इह–पर दोनों से विलक्षण परमपुरुषार्थ को जो चाहता है, उसे इन दोनों विषय सुखों से विरक्त होना चाहिए । इस अभिप्राय की युक्तायुक्तता का आप स्वयं चिंतन करें। तदनन्तर आपको एक निश्चय लेना चाहिए, ऐसी प्रार्थना है ।

***

38–आश्रमवास (जुलाई 1970)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पढ़ा । कोई एक आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थादि) स्वीकार करके साधना को आगे बढ़ाने की इच्छा रखता हूँ । ऐसा आपने लिखा है । इस विषय को पढ़कर मुझे आनन्द आ गया । आपने जो प्रश्न पूछा है, इसके उत्तर में मेरे द्वारा दी गई सूचना किस हद तक उपयोगी है ? इस बात का आप स्वयं ही निर्णय करें ।

आपने अपने पत्र में ''आश्रमवास'' शब्द का उपयोग किया है । इसके लिए आपके द्वारा प्रदत्त अर्थ भी रूढ़ि में है ''वर्णाश्रम'' यही आश्रम शब्द का प्रसिद्धार्थ है । इसलिए उस अर्थ को स्वीकार करके ही मैं यहाँ उत्तर लिख रहा हूँ ।

शास्त्र दृष्टि के अनुसार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, पारिव्राज्य नाम से चार आश्रम हैं । जो द्विज है उसे गुरु के समीप वेदाध्ययन करके उनसे अनुमति लेकर इन चारों में एक को यथारुचि स्वीकार करके उस आश्रम में रहना चाहिए

यमिच्छेत्तमावसेत्– ऐसा आपस्तम्ब वचन है । ब्रह्मचारी होकर ही गुरु के समीप वेदाध्ययन करना चाहिए न? वह ब्रह्मचारी **उपकुर्वाण** कहलाता है । परन्तु यहां उक्त चार आश्रमों में **''नैष्ठिकब्रह्मचर्य''** ही ब्रह्मचर्य कहलाता है । गुरु सेवा ही करते हुए शेष समय में वेदशास्त्रों का अध्ययन करते रहना नैष्ठिक

ब्रह्मचर्य है । यह एक बड़ा व्रत है । कहते हैं कि जो इसका अनुसरण करते हैं, उनको देवयान मार्ग के द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्ति करने के लिए साधकरूप पुण्य उपलब्ध होता है परन्तु इस कठिन व्रत का अनुष्ठान करने वाले ब्रह्मचारी आज के दिन कहाँ मिलते हैं ? गुरुमुख से यथाशक्ति वेदशास्त्राध्ययन करते हुए, समाप्ति के अनन्तर विवाहित होकर **गार्हस्थ्य** को स्वीकार करना द्वितीय आश्रम है । अग्निहोत्र, देवतार्चन, अतिथि–सत्कार इत्यादि धर्मों का संरक्षण करते हुए केवल ऋतुकाल में ही पत्नीसंयोग करके सत्–संतान प्राप्त करने वाले गृहस्थ आज के दिन अतिविरल हैं ।

तृतीय आश्रम कायक्लेश प्रधान **तप आचरण युक्त वानप्रस्थ है ।** ऐसे लोग तो आज के दिन खोजने पर भी नहीं मिलते हैं । यदि वैराग्य उत्कट है तो चाहे ब्रह्मचर्याश्रम में रहे, गार्हस्थ्य में या वानप्रस्थ आश्रम में रहे तत्क्षण सर्वस्व त्याग करके चतुर्थ **''पारिव्राज्य''** ग्रहण करना चाहिए । परन्तु इन दिनों में संन्यासी नाम के गेरूआ वस्त्र धारण करने वाले बहुत लोग जहाँ–तहाँ देखने को मिलते हैं परन्तु उनमें अनेक लोगों को क्रमपूर्व कर्मसंन्यास भी नहीं, शमदमादि भी नहीं । कुछ धूर्त लोग भी उस वेष में जीवन बिताते रहते देखे जाते हैं । उनमें कुछ लोग संन्यासी, साधु हुए महापुरुष भी हैं । वे महापुरुष साधक वर्ग को चिंतन, जपादि करने के लिए उत्तम वातावरण की कल्पना की दृष्टि से ''आश्रम'' नाम से संस्था का निर्माण करते हुए यत्र–तत्र देखे जाते हैं । उस समूह में अनेक साधक लोग भी जुड़े हैं । अधिकतर वहाँ भोजन–वसति की सुविधा देना ही कष्टकर होता हुआ देखा जाता है । कहीं–कहीं धनवान लोगों की सहायता से प्रचुर–भोजन उपलब्ध होता है । परन्तु वैसे स्थानों पर ''स्वार्थ साधक'' ही अधिक संख्या में दृष्टिगोचर होते हैं । वेषधारण करके दिखावे का वैराग्य प्रदर्शन करने वाले उनमें समन्वित हैं । वैसे आश्रमों में अपने आचरण, वाणी के द्वारा मार्गदर्शन करने वाला सत्पुरुष मिलना बहुत ही कठिन है । आश्रमों में काम–क्रोध, लोभ

नामक आसुरी सम्पत् को बढ़ाते हुए वास्तविक साधकों के उत्साह को भंग करने वाले दाम्भिक लोग वहां भरे रहने से वहां वास करना वृथा कालक्षेप अथवा वृथा श्रम ही हो जाता है । वैसा आ–श्रम (आसमन्ताद् श्रमः –व्यर्थ बोझ मात्र) किसको चाहिए । इसलिए आप जो साधना करते हैं उससे आपको यथार्थ में फल प्राप्ति की इच्छा है तो सबसे पहले **''आर्जव''**–ऋजुभाव (सरलता, सादगी) अर्थात् मन–वाणी–कर्म में एकरूपता होना– इस साधन को संपादन करने के लिए प्रयत्न करिए ।

आप जो साधना कर रहे हैं उस साधना में आप श्रद्धा से युक्त हैं न ? आपको मुमुक्षता, भगवद्– भक्ति के द्वारा ईश्वर–प्रीति संपादन करके भगवद्ग्रह से संसार सागर से पार होने की इच्छा वास्तव में है क्या ? स्वयं परीक्षा करें । नहीं तो **''श्रमस्तस्य श्रमफलः'** इस उक्ति के अनुरूप आप जो साधना कर रहे हैं उसके लिए केवल श्रममात्र फल होगा । आश्रम में स्थित मार्गदर्शी महानुभाव वास्तव में कृतकृत्य होते हुए साधक लोगों के लिए मार्गदर्शी भी हो सकते हैं परन्तु उनके प्रति गुरुभावना न होने से आश्रमवास का फल नहीं मिल सकता है

ये महान पुरुष हैं, इस प्रकार सर्वत्र कीर्ति प्रचारित होने से आप उस महापुरुष के पास गये, वहाँ उन्हें आश्रम कार्यों में ही विशेष आसक्त देखकर वे भी लौकिक ही हैं, हम सरीखे कार्यसाधन में श्रम करने वाले हैं, ऐसी बुद्धि अंकुरित होकर उनके विषय में अरुचि उत्पन्न हो सकती है । तब आपको आश्रमवास से सत्फल होने के बदले गुरु तिरस्कार से दुष्फल ही होगा । इसलिए जिसको गुरु मानेंगे उसका आचार, विचार, अनुष्ठान, अध्यात्म–विद्यासक्ति, साधनानुष्ठान का मर्म समझाने का सामर्थ्य इन सब विषयों की परिगणना करके भक्ति संपादन करना चाहिए । जो आश्रम में स्थित हैं, उन लोगों से गुणग्रहण करते हुए, किसी भी दोष को मन में न लाते हुए साधना में ही निरत होकर भगवद्भक्ति बढ़ाने में ही यत्न करें । आपको श्रेय होगा ।

39–तत्त्व विचार–साधनानुष्ठान (सितम्बर 1970)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच चुका है । क्या तत्त्व जानने वालों को भी साधन करना आवश्यक है ? अध्यात्म ग्रंथों में जिस तत्त्व को कहा गया है, उसको जो अनायास ही समझ लेता है उसे कौनसी साधना किसलिये करना चाहिए । जो तत्त्वविचार में ही डूबे रहते हैं उनके लिए साधनानुष्ठान अनावश्यक भार बनेगा न? ऐसा आपने पूछा है ।

आपका प्रश्न अर्थगर्भित है । अर्जुन को भगवान् कर्म अवश्य करते रहना चाहिए इस प्रकार उपदेश देते समय में भी –

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।।

(गीता 3/17,18)

इस प्रकार कहा है, जो आत्मज्ञाननिष्ठ है, जो आत्मचिंतन में ही निरत रहता है, आत्मानन्द रसस्वाद से ही तृप्त हो गया है । उसके लिए किसी भी साधना की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह साधना के द्वारा कोई भी प्रयोजन नहीं चाहता है। किसी एक साधना को न करने से मुझे अनिष्ट होगा, इस प्रकार का भय भी उसको नहीं है । उसके लिए किसी एक देवता की आराधना करके प्राप्त करने योग्य अभीष्ट भी नहीं है । क्योंकि ज्ञानतृप्त का सब कुछ आत्मा (स्वरूप) हो चुका है ।

केवल इतना ही नहीं, जिस मुमुक्षु को पूर्णवैराग्य है, उसके लिए भी करने

योग्य कुछ भी शेष नहीं है । जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हुआ, उसी दिन समस्त कर्मों को संन्यास करके केवल परमात्मप्राप्ति के लिए ही प्रयास करते हुए गुरुसेवापूर्वक तत्त्वविचार करते रहना चाहिए, ऐसा शास्त्र भी कहता है ।

परन्तु एक सतर्कतायुक्त वचन यहाँ कहना ही पड़ेगा । क्या मुझे तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ है या नहीं ? इस विषय का दूसरा व्यक्ति निर्णय नहीं कर सकता है। स्वयं ही निश्चय करना पड़ेगा । निषिद्ध कर्म करके भी कैसे भी हो इन्द्रियतृप्ति करना चाहिए – ऐसी इच्छा मन में कभी–कभी उत्पन्न होती है क्या ? इस विषय को जो साधक है, वह स्वयं परीक्षा करे । इन्द्रियाँ अपने भोग्य वस्तु मिलने पर चुप रहती ही नहीं । बलात्कार से विषयों की तरफ मन को खींचती रहती है । इसलिए उनको वश में रखने के लिए साधन आवश्यक है ।

मन में विक्षेप आता रहता है क्या ? किसी परमार्थ चिंतन के समय इधर–उधर भटकता है क्या? इसके बारे में विचार करना चाहिए । यदि मन विषयों को उत्पन्न कर रहा हो, ध्यान करते समय इधर– उधर विषय–चिंतन के द्वारा दौड़ रहा हो, फिर साधन अवश्य चाहिए । अध्यात्म ग्रंथ पढ़ते समय अथवा अध्यात्मोपदेश सुनते समय मन विचारसंबंधी विषयों में अधिक काल न रहते हुए जहाँ–तहाँ सरकता रहता है क्या ? अथवा इन संदर्भों में आलस लाकर तन्द्रा के लिए अवकाश देता है क्या ? इन सब विषयों की जांच करनी चाहिए । यदि ऐसी बात है तो साधन जरूर चाहिए ।

एकान्तवास की दृष्टि से घर परिवार से दूर चले जाने पर, कुटुम्बीजनों की या आप्त इष्टमित्रों की चिंता–स्मरण मन में घूमता रहता है क्या ? अथवा एकान्त स्थान में ही किसी एक दृश्यविशेष को देखकर मन प्रफुल्लित होकर क्या उसी तरफ दौड़ के जाता है? फिर अवश्य योग्य साधना का आश्रय लेना पड़ेगा।

साधन का क्या अर्थ है ? शरीर, इन्द्रिय, मन सम्बन्धी सुख–समाधान के लिए कुछ करने के व्यसन वालों को अपने वास्तविक स्वरूप परमार्थ आत्मा

की तरफ मोड़ने के लिए बाधा रहती है । उस बाधा के निवारण के लिए जो प्रयत्न किया जाता है वही साधन है, बुद्धि के प्रभाव से विषयग्रहण योग्यता आने मात्र से (तत्त्व) विचार के लिए योग्यता है, ऐसा समझना उचित नहीं है । इन्द्रिय, मन और बुद्धि के दोषों को रोककर स्वरूप को ही निरूपित करने की योग्यता आने के लिए प्रयत्न चाहिए । उसके लिए शास्त्रोक्त साधन चाहिए ।

***

40–भक्ति और ज्ञान (नवम्बर 1970)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

भक्त तो ईश्वर से भिन्न है । ज्ञानी 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ही ब्रह्म हूँ, इस अनुभव का संपादन कर लिया है । इसलिए भक्ति ज्ञान से नीचे स्तर की है न ? ऐसा आपने पूछा है भक्ति और ज्ञान शब्द के लिए दो–दो अर्थ हैं । इन दो अर्थों को आपने मन में नहीं बैठाया है । यही इस शंका का कारण है । भक्ति गौण भक्ति और मुख्य (परा) भक्ति नाम से दो प्रकार की है । ज्ञान भी ऐसा ही है । व्यावहारिक ज्ञान और पारमार्थिक ज्ञान रूप से दो प्रकार है । पराभक्ति और परमार्थ ज्ञान एक ही पदार्थ को भिन्न– भिन्न दृष्टि से दिये गये नाम हैं ।

चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय: ।।
उदारा: सर्व एवैते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थित: स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।।

(गीता 7/16–17–18)

इन श्लोकों का शांकरभाष्य देखना चाहिए । तब आपका संशय परिहार हो जायेगा । ज्ञानी ही वास्तविक भक्त है क्योंकि सर्वभूतों में स्थित परमात्मा एक ही है, वही मेरी आत्मा है–ऐसा समझकर वह ज्ञाननिष्ठ हो गया है । जो परब्रह्मानुभव को प्राप्त कर लिया है उसी को **मद्भक्तिं लभते पराम्** (18–54) रूप पराभक्ति है । जो पराभक्ति से समन्वित है उसी को परमेश्वर की विभूति और परमात्म तत्त्व का मर्म अनुभव में बैठता है ।

***

41–ब्राह्मण्य (फरवरी 1971)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पढ़कर देख लिया । आज के युग में ब्राह्मणों को कोई स्थान मान नहीं है। भारतीय प्रशासक लोग ही हिन्दूमत को कुल्हाड़ी मार रहे हैं । जातीयता, शुद्धता आदि नामकरण द्वारा ब्राह्मण्य का नाश करने के लिए ही भाषणादि द्वारा नेता लोग स्थिर प्रयत्न कर रहे हैं । ऐसी दशा में कब कैसे ब्राह्मण्य की रक्षा संभव है । अन्य लोग संघ आदि का निर्माण कर लिये हैं परन्तु ब्राह्मणों में असंघात ही असाधारण धर्म बन गया है । लगता है कि ब्राह्मण्य का उद्धार करने लिए अब (भगवान् के) एक नये अवतार की आवश्यकता है । ऐसी अवस्था में ब्राह्मण लोगों को क्या करना चाहिए । इस विषय में आपकी सूचना क्या है ? ..... इस प्रकार आप बहुत उद्वेगपूर्वक लिखे हैं ।

इस विषय में काई संशय नहीं है कि ब्राह्मण्य खिल होता जा रहा है परन्तु इस अनर्थ का कारण सरकार (प्रशासन) नहीं है । जननायक (नेता लोग) भी नहीं । ब्राह्मण से इतर जाति वाले भी इसका कारण हैं नहीं । ''सभी वर्गों में हम लोग श्रेष्ठ वर्ण वाले हैं'', इत्यादि कहते हुए ब्राह्मण्य का तिरस्कार कर रहे पोंगापंथी (ढोंगी) ब्राह्मण लोग ही कारण हैं ।

ब्राह्मण का क्या अर्थ है ? यदि एक समूह का संकेत नाम मान लिया जाय तो अभी भी ब्राह्मण लोग विद्यमान हैं । ब्राह्मण शब्द का योगरूढ़ार्थ को स्वीकार करने पर अब इस काल में कोई ब्राह्मण है ही नहीं– ऐसी शोचनीय अवस्था हमारे देश में हो गयी है । एक अर्थ में ब्रह्म को वेद कहते हैं । तब वेद की अर्थसहित रक्षा करते रहने वाले ब्राह्मण लोग कहलाते हैं । इस दृष्टि से ''ब्राह्मण्य की रक्षा'' इसका आशय यही है कि वेदाध्ययनपद्धति, वेदोक्त कर्मों के अनुष्ठान'–पद्धति की रक्षा करना । इसको जनता को अवश्य करना चाहिए । ब्राह्मण्य का बचाव करने से इह–पर श्रेय के लिए कारण प्रवृत्तिधर्म की रक्षा हो जाने के कारण पुण्य अवश्य प्राप्त होता है ।

ब्रह्म शब्द का एक और अर्थ है । ब्रह्म अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का और समस्त जीवों का आत्मस्वरूप अद्वितीयात्मा । उस ब्रह्म को ''मेरी आत्मा है'' इस प्रकार जो अनुभव के द्वारा दर्शन किये हैं वे ''ब्राह्मण'' कहलाते हैं । **अमौनं च मौनं च निर्विद्यऽथ ब्राह्मण:।।** (बृह. 3.5.1) पाण्डित्य (शास्त्रार्थज्ञान), बाल्य(अपने धार्मिकत्वादियों को प्रदर्शित न करते हुए बालक की भांति विनय से रहना) ये अमौन हैं । तत्त्व को ही मनन करते रहना मौन है । जो इन दोनों को अपने में स्थिर कर लिया है, वह ''ब्राह्मण'' है, ऐसा श्रुति कहती है । इस अर्थ में ज्ञान, वैराग्य रूप निवृत्तिधर्म का अंतिम चरण ही ''ब्राह्मण्य'' कहलाता है । यह बात स्पष्ट है कि इस ब्राह्मण्य की रक्षा करने के लिए परमेश्वर को ही अवतार लेकर इस लोक में प्रादुर्भाव होना पड़ेगा क्योंकि भगवान् के द्वारा सृष्टि के आदि में उपदिष्ट इस धर्म के नष्ट हो जाने पर पुन: इसकी रक्षा करने के लिए भगवान् के अतिरिक्त कौन समर्थ हो सकता है ?

अब ब्राह्मण्य खिल अर्थात् नष्टप्राय: हो गया है । अपने आपको ब्राह्मण कहलाने वाले ही इसका कारण हैं । आज की स्थिति देखकर ऐसी शंका होती है कि ब्राह्मण लोगों को ही ब्राह्मण्य चाहिए ही नहीं । अब यजन, याजन, अध्ययन,

अध्यापन, दान, प्रतिग्रह इस रूप का प्रवृत्ति धर्म और

शमो दमस्तप: शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।

– (गीता 18–42)

इस भगवदुक्त प्रकार से शमदमादिरूप निवृत्ति धर्म अति बिरला ही दृश्यमान होता है । ब्राह्मण कहलाने वाले अनेक लोग संस्कृत भाषा का तिरस्कार करके अंग्रेजी भाषा का अध्ययन करके कोट, शर्ट, बनियान, ट्राउजर, हैट, बूट इत्यादि वेषधारण करके कैट (CAT), रैट (RAT), बैट (BAT) इत्यादि पदों से भरी हुई भाषा बोलते हुए रेल, साईकिल, मोटर, एरोप्लेन इत्यादि यानों को पसंद करते हुए, पाश्चात्य सभ्यता के अनुकूल आचार–विचारों को प्रचलन में लाने लगे हैं । अब कोई पहली पीढ़ी के वैदिक लोग भूलोक में उतर आयें तो वे व्याकुल होकर यही लिखेंगे कि – ''अब इस पृथ्वी में कोई ब्राह्मण है ही नहीं'', इस विषय में कोई संशय नहीं है ।

इन सबके लिए क्या कारण हैं ? कामना की उत्कर्षता, भोगलालसा और अजितेन्द्रियत्व है । अब और कुछ करना नहीं होता है तो –

''कलौ कल्मषचित्तानां पापद्रव्योपजीविनाम् ।

विधिक्रियाविहीनानां गतिर्गोविन्दकीर्तनम् ।।

कम से कम इस श्लोक के अर्थ को ब्राह्मण लोग अर्थानुसंधानपूर्वक नित्यपाठ के रूप में रखने से इनके लिए कुछ गति के लिए मार्ग हो सकता है ।

***

42–उपनयन (मार्च 1971)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आप पत्रिका में समय–समय पर ''ब्राह्मण ही वेद का लक्षण है, ऐसा लिखते रहते हैं'' । मैं इन सब लेखन को पढ़ता रहता हूँ । परन्तु इस जमाने में जीवन व्यतीत करने के लिए लौकिक विद्या अर्जित करना अत्यावश्यक हो गया है । इसलिए वेदाध्ययनार्थ समय कहाँ बचता है । वेद के बारे में दूसरों को समझाने वाले वैदिक लोग भी इस समय में कम होते जा रहे हैं । इतना ही नहीं वेद से आज के जीवनक्रम के लिए क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार पूछने वाले ही अधिक हैं । ब्राह्मण लोगों को उपनयन (जनेऊ धारण), विवाह इन सबको सम्पन्न करना ही कठिन पड़ रहा है । अधिक लोग विवाह के समय में ही उपनयन संस्कार कराने की पद्धति शुरु किये हैं । ऐसी विकट परिस्थिति में ब्राह्मण्य–रक्षणार्थ कोई सुलभोपाय है क्या ? इस प्रकार एक सज्जन ने प्रश्न लिखा है, उसके लिए यही मेरा उत्तर है–

आपका पत्र पढ़कर ब्राह्मण्य में अभिमान रखने वाले, आँसूं की धारा बहा दें तो कोई आश्चर्य नहीं है । बुजुर्ग लोग कहते थे कि कलियुग के 5000 वर्ष अनन्तर वर्णसंकर हो जाता है । परन्तु कह सकते हैं हम ''वर्णसंकर तो अब हमारी आँखों के सामने ही दिखाई दे रहा है'' । आज के समय में ब्राह्मण लोगों को ब्राह्मण्य पर श्रद्धा नहीं । इस बात के लिए आपके द्वारा उदाहृत उपनयन दृष्टान्त ही साक्षी है । उपनयन के तत्क्षण विवाहार्थ लोग तैयार हो रहे हैं, ऐसा आपका लिखना आज के समय की सच्चाई है । परन्तु उपनयन क्या है ? **अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयेत्** । इस वाक्य प्रमाण से आठ वर्ष के ब्राह्मण बालक को आचार्य के समीप ले जाकर अध्ययन कराना चाहिए । इस

विधि के अनुसार वेदाध्ययन के लिए आवश्यक संस्कार ही उपनयन है । पत्नी ग्रहण करने वाले का ''मैं ब्राह्मण हूँ'' ऐसा प्रदर्शित करने के लिए कंधे पर तीन सूत का ध्वजा चढ़ाने का नाटक है ऐसा अर्थ नहीं है । कुछ लोग जिनके पास सुविधा सम्पन्नता आदि पर्याप्त मात्रा में है, वे मेरे पुत्र को अमुक दिन ब्रह्मोपदेश होना चाहिए, ऐसा गुरुजन निश्चय किये हैं । आप उस समय कृपा करके पधारकर बेटे को आशीर्वाद देना चाहिए । इस अर्थ के पत्र को चमकीले कागज में रंगबिरंगे अक्षरों से मुद्रण कराकर इष्टमित्र लोगों में वितरण करना, बैण्ड–बाजा इत्यादि के द्वारा आकर्षण बढ़ाना, अपने मित्र–बन्धुओं को भोजन कराना, नाना प्रकार के मिष्ठान्न, नमकीन आदि को उत्सव में बढ़–चढ़कर बाँटना इत्यादि परिकरों को उपयोग करते हैं, परन्तु **इस संस्कार में गायत्री–पुरश्चरण मुख्य है उसके लिए कोई भी कष्ट नहीं उठाते हैं । उपनीत वटु को कम से कम दिन में दो घण्टे वेदाध्ययन करने के लिए व्यवस्था करनी चाहिए, इसके लिए कोई सोचते भी नहीं ।**

ज्ञानकर्मों को आचरण में लाने के लिए स्थापित हुए मठ के महन्तजनों को उन मठाधिपतियों के नेतृत्व में आचारवान्, कर्मश्रद्धा वाले कुछ लोग ब्राह्मण विद्यार्थियों के वेदाध्ययन और वेदार्थविचार के अनुकूल विद्यास्थानों को बनाना चाहिए ।

अपने को ब्राह्मण कहलाने वाले लोग वास्तविक ब्राह्मण्य की रक्षा के लिए नित्याह्निक के लिए अत्यावश्यक मंत्रों को सस्वर अर्थसहित स्वयं अभ्यास करके, विद्यार्थियों को भी अत्यावश्यक मंत्र सीखने के लिए अनुकूल हो वैसा **सार्थ वैदिक मंत्रों की पुस्तक छपवाकर ब्रह्मचारियों में वितरित करना, अध्यापकों को दक्षिणादि के द्वारा प्रोत्साहन देना– ये सब करने पर ''उपनयन'' शब्द सार्थक होता है । अध्यापक लोग भी इतने ब्रह्मचारियों को मत्रं समझाकर पुण्य अर्जित करूंगा– ऐसा संकल्प किया तो ब्राह्मण्यरक्षण**

का पुण्य अवश्य उनके लिए प्राप्त होगा ।

गायत्री–प्रतिपाद्य भगवान् अन्वर्थ ब्राह्मणों को और ब्राह्मण्याभिमानियों को भी इसी प्रकार सद्बुद्धि वृत्तियों की प्रेरणा देवें, ऐसा हम सब भक्तिपूर्वक प्रार्थना करें।

***

43–भावना की आवश्यकता (जुलाई 1971)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच चुका है । अध्यात्मविद्या प्राप्त्यर्थ– साधन करते समय कौनसी साधना को किस प्रकार करना चाहिए ? इस बात का निर्णय कैसे करें, ऐसा आपने पूछा है । यह प्रश्न समस्त वेदान्त जिज्ञानुजनों के लिए समझने योग्य विषय है । इसलिए किंचित विस्तारपूर्वक मेरा अभिप्राय सूचित करने के लिए यहाँ प्रयत्न करूंगा ।

परमेश्वर के लिए कर्म अर्पित करना, अर्चना, जप, स्तोत्र, ध्यान इत्यादि विविध साधनाएं शास्त्रों में साधकजनों के प्रति उपदिष्ट हैं । मुमुक्षुजन को अपनी शक्ति के अनुसार ही साधन को स्वीकार करना चाहिए । समस्त साधन सबके लिए उपदिष्ट नहीं हैं । अपनी रुचि के अनुसार साधन चुनना चाहिए । उस साधना के बारे में जो भी संशय है, उसका सद्गुरु के द्वारा परिहार कर लेना चाहिए फिर अपने अधिकार योग्य उस साधना को स्थिर प्रयत्न के द्वारा अनुष्ठान करने के लिए मन लगाना चाहिए ।

इस बात को भूलना नहीं चाहिए कि साधना चाहे कुछ भी करें, गुरु–शास्त्र वचन में श्रद्धा रखकर साधन का मर्म समझना चाहिए और साधना करते समय आदरपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिए । ''श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः'' (गीता 17–3) ऐसा भगवान् ने कहा है । यहाँ श्रद्धा

माने, ''ऐसा होना चाहिए'' इस प्रकार के केवल विश्वास से ही स्वीकार नहीं करना चाहिए । गुरुशास्त्र वाक्यों में विश्वास होना चाहिए, यह बात ठीक है क्योंकि **शास्त्रवचन में दृढ़ विश्वासरहित व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्त होता है तब उसको साधनानुष्ठान से प्राप्य परमपुरुषार्थ-योग्यता नहीं मिल सकती है । ''न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्'' ।** (गीता 16-23) उनके लिए पुरुषार्थ प्राप्ति के लिए योग्यता की प्राप्ति नहीं होती, इस लोक में सुख भी नहीं प्राप्त होता है और परलोक में उत्तम गति भी उपलब्ध नहीं होती है, ऐसा स्वयं भगवान् ने ही कहा है।

साधनानुष्ठान में भावना भी अत्यावश्यक है । इस विषय को हमारे नित्य जीवन में दृश्यमान दृष्टान्तों के द्वारा भी समझ सकते हैं । ''नमस्कार'' ऐसा चिल्लाकर हाथ जोड़ने वाला और श्रद्धा- गौरवपूर्वक हाथ जोड़ने वाला इन दोनों में विद्यमान तारतम्य हम सबको ज्ञात है ही । पिता, माता, पुत्र, मित्र इनके प्रति हमारे हृदय में जो भाव है वह अन्य सब में नहीं रहता है । अन्यजनों को देखकर ''आपके आने से आनन्द आ गया'' ऐसा कितना भी बलपूर्वक कहने पर हृदय जितना स्वजनों को देखकर होता है, उतना ही आर्द्र होता है ऐसा कहना नहीं होता है न ? **इसी प्रकार तीर्थ, देवालय, देवता, गुरु, मंत्र इनमें जैसी भावना है, वैसा परिणाम होना युक्त ही है ।**

मंत्रजप करूँगा ऐसा संकल्प करके केवल शब्दोच्चारण करने मात्र से, स्तोत्र पाठ करने मात्र से गीता, रामायण आदि धर्मग्रंथ पारायण करने मात्र में माता-पिता का श्राद्धकर्म करूंगा ऐसा सोचकर ब्राह्मणों को भोजन खिलाने मात्र से जप, स्तोत्रपाठ, पारायण और श्राद्ध का फल नहीं मिलता है । एकान्तवास करूँगा, ऐसा कहते हुए पर्वत या गुफा में वास करने मात्र से ध्यान या तप का फल उपलब्ध नहीं होता है । वेदान्त-विचार करूँगा ऐसा निर्णय लेकर मीमांसा, न्याय अथवा तर्क सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का उपयोग करके वागाडम्बर

करने मात्र से आत्मज्ञान नहीं होता है । इन सबमें श्रद्धा–आदर से युक्त भावना निरन्तर प्रवाहित होते हुए वह मन में स्थायी स्थिर होनी चाहिए ।

केवल आपके द्वारा चुने गये साधन–विशेष से आपको पुरुषार्थ मिलेगा ऐसा कहना नहीं होता है। श्रद्धाभक्ति से संयुक्त निरन्तर भावना ही साधना में सामर्थ्य दिलाने वाला खाण्ड है– इस विषय आपके मन में स्थिरीभूत हो जावें ऐसा भगवान् आपको अनुग्रह करें, ऐसी मेरी अभिलाषा है ।

***

44–भोग, भय और क्रोध (अगस्त 1970)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र प्राप्त हो गया है । मेरे कुछ एक मित्र लोग इस प्रकार उपदेश देते हैं कि 'विषयों की आशा त्याग करने से मनुष्य को परम पुरुषार्थ प्राप्त होता है' । परन्तु मैं देखता हूँ कि उन लोगों की तृष्णा में कोई कमी नहीं आयी है । एक व्यक्ति को मैं जानता हूँ । वह आशा–तृष्णा के बारे में लम्बा– चौड़ा प्रवचन देकर कई हजार रूपये कमाकर चला गया । वह एक नहीं दो औरत को भी रखा है, बाल–बच्चे, बंगला, नौकर–चाकर सारी सुविधा वह जोड़कर रखा है । त्यागमय जीवन का उपदेश करते समय धन संपादन करते हुए भोगमय जीवन को ही व्यतीत कर रहा है । यह सब देखकर मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि अन्याय से वित्तार्जन करना छोड़ देना चाहिए । बस इतना ही मुख्य है । परन्तु मेरा मन विषयभोग के प्रति बार–बार दौड़ता है । सम्पत्ति का भय, कोई इसका अपहरण कर लिया तो क्या किया जाए ? इत्यादि चिन्ता मुझे सता रही है कोई मुझे विषय–लोलुप कहने से अथवा यदा–कदा भोग में रुकावट उत्पन्न होने से मुझे बहुत क्रोध आता है । इसलिए इन भय क्रोधों को जीतने के लिए कोई उपाय है क्या ? कृपया समझाइये, ऐसा आपने लिखा है ।

आप द्वारा यह प्रश्न पूछना उचित ही है क्योंकि केवल प्रवचनकारों का उपदेश किसी काम नहीं आता है । आजकल प्रवचन आदि के द्वारा जीविका चलाने वाले सामाजिक, विद्याभ्यास और राजकरण इन सभी क्षेत्रों में भी देखे जा सकते हैं । इसलिए भोगलालसा छोड़नी चाहिए– ऐसा उपदेश करने वाले इस प्रकार के लोगों की उपेक्षा करना ही युक्त है। न्यायपूर्वक भोग संपादन का आपका निर्णय भी उचित है परन्तु शास्त्रविधान के अनुरूप अनुष्ठान करके धर्म के द्वारा अर्जित सुख और भी उत्तम है क्योंकि न्याय–अन्याय के बारे में भोगासक्त लोगों द्वारा स्वयं निर्णय करना आज की परिस्थिति में कष्टसाध्य ही है। परन्तु कैसे भी संपादन करो– भोग तो स्थिर नहीं रहता है । **''ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते''।** (गीता 5–22) इस भगवद्भक्ति के अनुसार इन्द्रिय द्वारा विषयों का उपयोग करना दुःख का कारण बने बिना ठहरता ही नहीं । विषय का भोग चाहिए परन्तु भोगक्षय नहीं होना चाहिए यह तो असंभव है । **धनसंग्रह के पीछे भय का भूत लगा रहता है इस बात को आप अनुभव करके स्वयं देख चुके हैं इसलिए धनसंग्रह से भी अधिक धन से धर्म, धर्म से सुख यह नीति ही सुखी जीवन के लिए उपयुक्त है ।**

सहज रूप में इन्द्रियों को कुछ विषयों के प्रति राग रहता है और कुछ विषयों के प्रति द्वेष । इसलिए इन्द्रिय सम्बन्धी रागद्वेष के वश में होने की अपेक्षा, **जीवन निरायास चलने के लिए जितना आवश्यक है उतना ही हितमित और शास्त्र अप्रतिषिद्ध भोगों को मात्र उपभोग करते जाना ही बुद्धिमत्ता है ।** इससे मन को प्रसन्नता भी प्राप्त होती है, ऐसा भगवान् ने कहा है ।

अब भय, क्रोध के बारे में विचार करें । मनुष्य के पीछे एक के बाद एक भय लगा रहता है । अपनी अभिलाषा पूर्ण न होने पर क्रोध उत्पन्न होना भी स्वाभाविक ही है । कोई न कोई हर्षनिमित्त और भयनिमित्त लोगों को दिन प्रतिदिन होते रहते हैं । इसलिए विवेकी पुरुष को अपने मन को नियंत्रण में

रखकर ही जीवनयात्रा व्यतीत करनी चाहिए। अब जिसको परमपुरुषार्थ को ही संपादन करने की अभिलाषा है, वैसे मुमुक्षुजनों के प्रति भगवान् ने एक सुंदर उपदेश दिया है – **''वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिता:। बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता: ।।** (गीता 4–10) जो भगवद्भक्ति में ही तन्मय है उनसे राग, भय, क्रोध भाग जाते हैं । इसके द्वारा वे भी भगवत्स्वरूप ही हो जाते हैं । इसलिए अपने अधिकार के अनुरूप साधन करते हुये संसार भय से मुक्त होने के उपाय को हम सबको अवलम्बन करना चाहिए ।

***

45–संन्यासाश्रम (सितम्बर 1971)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच गया । संन्यासाश्रम का किस प्रकार पालन करना चाहिए? आचरण भी अनेक प्रकार का दृष्टिगोचर हो रहा है । शास्त्रों में भी अनेक प्रकार का वर्णन मिलता है । मुझे संन्यास स्वीकार करने की इच्छा है परन्तु कुछ आप्त लोग मना कर रहे हैं । मैं तो विधुर हूँ । फिर से विवाह की अभिलाषा भी नहीं रखता हूँ। मुझे चतुर्थाश्रम स्वीकार करने के विषय में कोई बाधक है क्या ? समझाइये । इस प्रकार आपने लिखा है ।

संन्यास और त्याग इन दो शब्दों का अर्थ है छोड़ना । तथापि संन्यास को चौथा (चतुर्थ) आश्रम कहने की रूढ़ि है । इसका कारण यही है कि **परमार्थ दृष्टि से देखने पर हमारी आत्मा परमात्मा ही है। वह कूटस्थ नित्य – अर्थात् विकाररहित, चलनारहित, समस्त भूतों की आत्मरूप–परमार्थ तत्त्व है ऐसा श्रुति और स्मृतियों में कहा गया है । इसलिए जो इस ज्ञान को प्राप्त कर लिया है वह किसी भी वेष में रहे उसको संन्यासी ही समझना चाहिए ।** भगवद् गीता में परमार्थ संन्यास का वर्णन इस प्रकार किया गया है ।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् । पश्यन्, श्रण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, गच्छन्, स्वपन्, श्वसन् ।। प्रलपन् विसृजन गृह्णन्, उन्मिषन्, निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।। (गीता 5–8–9) तत्त्ववेत्ता देखने पर भी, सुनने पर भी, स्पर्श करने पर भी, सूंघने पर भी, खाते हुए भी, चलते हुए भी, सोते हुए भी, श्वांस लेते हुए भी, बोलते हुए भी, मलमूत्र विसर्जन करते हुए भी वस्तुओं को ग्रहण करते हुए भी, आखों को खोलता हुआ, मूंदता हुआ भी इन्द्रिय ही इन्द्रियार्थ में व्यापार कर रहे हैं, मुझे इन व्यापारों का सम्बन्ध नहीं ऐसा समझता है, यह ज्ञान जिसको है, वह किसी भी वेष में हो वह परमार्थरूप में संन्यासी ही है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी । नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्। (गीता 5–13) जो इन्द्रियों को वश में रखा है वह समस्त अनात्म कर्मों को भी मन से ही पूर्ण संन्यास करने के कारण देह में स्थित होते हुए भी कुछ नहीं करता है। दूसरों से कुछ कराता भी नहीं । आप काम, क्रोध, लोभ से ऊपर उठ चुके हैं न ? अनात्मरूप देह–यात्रा के लिए जो आवश्यक है वह भी मुझे नहीं चाहिए ऐसा निश्चय हो चुका है न ? यदि हाँ फिर आप अभी से संन्यासी हैं । यह **विद्वत्–संन्यास** कहलाता है। यह व्यक्ति अनावश्यक रूप में किसी भी वैदिक कर्म को किसी भी फल प्राप्त्यर्थ नहीं करता है, इसलिए आश्रम त्याग रूप संन्यास चिह्न को विधिवत् रूप से स्वीकार करने के लिए योग्य है ।

अब आपको बच्चे–धन की आशा, लोकान्तर में पुण्यफल भोगने की इच्छा यह सब कुछ नहीं है न ? फिर आप आत्मतत्त्व को जानने के लिए शास्त्रीयकर्मपरित्यागी संन्यासी होकर गुरु के पास तत्त्वजिज्ञासा करते हुए उनके कथनानुसार ज्ञानसाधन करते रहिए । **यह विविदिषा संन्यास कहलाता है ।**

संन्यास वेषधारण करके ''परमहंस परिव्राजक'' उपाधि प्राप्त कर सबका

गौरवपात्र होना चाहिए। लोगों को मुझे पूजा–सत्कार द्वारा आदर दर्शाना चाहिए– ऐसी इच्छा आपको है क्या ? फिर आप संन्यास के लिए योग्यता नहीं रखते हैं क्योंकि एषणात्रय का परित्याग करके श्रवणमननादि साधन करना ही वास्तविक संन्यासाश्रम है ।

यज्ञोपवीतधारण सहित एक संन्यासाश्रम भी है । उसके बारे में आगे कभी आपको बतलाऊँगा। सद्य आपको इस लोकसम्बन्धी कोई सुख अच्छा नहीं लगता है क्या ? आप स्वयं अपने मन की परीक्षा कीजिए । भगवान् आपको वर्णाश्रमानुष्ठान विषय में श्रद्धा का अनुग्रह करें ।

***

46–यज्ञ, दान, तप (जनवरी 1972)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पढ़ा । यज्ञदानतप को करना ही चाहिए, परित्याग न करें, इस प्रकार गीता में भगवान् द्वारा उपदेश देने पर भी अब यज्ञादि कहीं भी दृश्यमान है ही नहीं न ? जब यज्ञादि ही गायब हो गये हैं तब चित्तशुद्धि अथवा वेदान्तशास्त्र विचार के लिए अर्हता ही कहाँ से प्राप्त होगी ? ऐसा आपने पूछा है, सच बात है कालमहिमा से वर्णाश्रमधर्म अब प्राय: लुप्त हो गया है । जीवित रहने तक अग्निहोत्र की रक्षा करनी चाहिए– ऐसी शास्त्रविधि होने पर भी न के बराबर अर्थात् अति कम संख्या में श्रौताग्निधारण करने वाले दिखते हैं । कालमहिमा से वेदाध्ययन ही अस्त होने लगा है फिर अग्निहोत्र कैसे शेष बच सकता है ? गृहस्थ लोगों का बुढ़ापा आने पर बच्चों को कुटुम्ब धर्म धारण कराकर वानप्रस्थी हो जाना अब केवल पुराणों से मात्र समझने योग्य कथा बन गई है । कायक्लेशप्रधान तप (वानप्रस्थाश्रम) कहां देखने को मिलता है । महाभारत में **''दानमेकं कलौ युगे''** कलियुग में केवल दान ही जनता को उपलब्ध धर्म है,

ऐसा पुनः-पुनः कहा गया है । उदारभाव से शक्ति के अनुसार देशकालपात्र का विचार करके दान करने वाले जन अत्यन्त विरल हो गये।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव । दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् । अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा (8-28), नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया शक्य एवंविधो द्रष्टुं (11-53), भोक्तारं यज्ञतपसां (5-29), अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च (9-24) इत्यादि स्थलों में यज्ञदानतप की गीता में बार-बार प्रशंसा की गई है । तथापि उनसे भी श्रद्धा-भक्ति और योग अधिक श्रेयस्कर साधन है, ऐसा जगह-जगह पर वर्णन किया गया है, इस बात को अवश्य लक्षित करना चाहिए । **नायं लोकोऽत्यज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम (4-31)** जो किसी भी प्रकार के यज्ञ से रहित है, उसको इस लोक का सौख्य वास्तव में उपलब्ध नहीं होता है, ऐसा भी कथन को हम सब अवधारण करना चाहिए ।

इसलिए हमें आजकल मुख्ययज्ञ अलभ्य होने पर भी वहाँ कथन किये गये गौण यज्ञों में से जो कोई हमसे करना साध्य है उन यज्ञों को चुनना चाहिए । हमारे वर्णाश्रम के अनुसार शास्त्रोक्त रूप में कर्मों को यथाशक्ति करना चाहिए । **इन्द्रियसंयमरूपयज्ञ, श्रोत्रादियों में अविरुद्ध विषयों को होम बुद्धि से ग्रहण करना (4-26) स्वाध्याय यज्ञ, शास्त्रार्थ को विचारपूर्वक जानना रूप ज्ञानयज्ञ (4-28) रेचक, पूरक, कुम्भक नामक प्राणायामों का अभ्यास करना रूप प्राणायाम यज्ञ (4-30)** इन सबमें गुरुपदेश क्रम से यावद् उपलब्ध हो जाता है तावद् यज्ञों को अवलम्बन करना चाहिए ।

भगवद्गीता शास्त्र में यज्ञदानतप से भी अधिक भगवद्भक्ति को ही स्थान दिया गया है। समस्त यज्ञतप सबके साक्षी रूप परमेश्वर को ही अर्पित होते हैं, ऐसा भक्ति के द्वारा जान लेते हैं (5-29)[1] । श्रद्धा से भगवान् का ही ध्यान करते हुए उसका ही भजन करते हैं (6-47)[2] । भगवान् की शरण लेने वाले

माया को पार करते हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास रखते हैं (7-14)[3] । किसी भी निमित्त से भगवद्भजन हो रहा हो तो वह भी पुण्य का ही फल है ऐसा विश्वास करते हैं । अनन्य भाव से भगवद्भजन करने वाले ही महात्मा है (9-13)[4] हमारे द्वारा हो रहे कर्म और आहार-विहारादि को परमेश्वर को ही समर्पण करना उत्तम साधन है (9-27)[5], कितना भी बड़ा पापी हो भगवान् के भजन में लग गया तो उसको भी परगति होती है (9-32)[6], इस प्रकार बार-बार कहने के कारण इन बातों को मन में बैठाकर भगवद्भक्ति परायण होना चाहिए । इससे बढ़कर यज्ञ, दान या तप कुछ भी नहीं है ऐसा दृढ़ विश्वास करना चाहिए ।

कलियुग में कोई भी शास्त्रीयकर्म करना होता नहीं ऐसा कहते हुए स्वेच्छा प्रवृत्ति करने वाले मूर्खों का एक समूह है । **कोई भी युग हो, कितना भी म्लेच्छ देश हो अपनी शक्ति के अनुसार शुद्धाचरण में रहते हुए सर्वत्र व्याप्त, हमारी आत्मा ही हो चुके भगवान् से रहित प्रदेश ही नहीं है और ऐसा काल भी नहीं जिसमें वह अनुग्रह न करता हो-** इस प्रकार दृढ़ विश्वास रखकर शिष्टाचार और मनःसाक्षी को अवलम्बन करते हुए परमेश्वर ही हम सबकी गति है, इस श्रद्धा से समन्वित हैं वे लोग दूसरे समूह के हैं। इस प्रकार दो समूह सर्वदा रहते हैं । श्रद्धाभक्ति वालों को सभी देश-काल में पुरुषार्थ निश्चित् रूप में प्राप्त होता है इस विषय को हम लोग निरातंक रूप में मान सकते हैं । टिप्पणी :-

1. भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् । सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छाति । (5-29)
2. श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः (6-47)
3. मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते (7-14)
4. महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः । भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्। (9-13)

5. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् । (9–27)

6. मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् । (9–32)

***

47– भगवद्भक्ति (फरवरी 1972)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

देशभक्ति लोगों में उचित रीति से दिखती नहीं । हमारे देश को स्वातन्त्रय मिलने पर भी लोग देश के अभ्युदय के लिए परिश्रम नहीं करते हैं । एक–दूसरे से रागद्वेष करते हुए अनेक समूहों में विभाजित हो गये हैं । अब देशभक्ति का उफान लाने के लिए क्या उपाय करना चाहिए ? इस विषय में आपकी सूचना प्रदान करें, इस प्रकार आप लिखकर पूछे हैं ।

आपका पत्र पढ़ने के अनन्तर मेरे मन में एक अभिप्राय उद्भूत हुआ । आपके अंदर इस प्रकार प्रश्न उद्भव के लिए अब सर्वत्र व्याप्त राष्ट्रविचाररूप दृष्टि का वातावरण ही कारण है, ऐसा मुझे लगता है । जब परदेश के लोग हमारे ऊपर शासन करते थे तब असहकार के द्वारा इस जंजाल से मुक्त कैसे होवें ? इस प्रकार का प्रश्न सबके मन में सता रहा था । महात्मा गांधीजी अहिंसा, सत्याग्रहों के द्वारा परदास्य से मुक्ति पा सकते हैं, हमें ऐसा उपदेश दिये थे । इस मंत्र को लोग बहुकाल तक जप करते थे । अब इन शब्दों की आवाज बहुत क्षीण हो गयी है । अब इस देश की जनता एकमत कैसे होवे ? देशभक्ति कैसे अंकुरित हो ? इन प्रश्नों के जप में लोग लगे हैं । यह भी बाहरी हवा का ही परिणाम है, ऐसा मेरा अभिप्राय है ।

हमसे जो ऊँचे स्तर के हैं और हमारे लिए गौरव के पात्र हैं, उनके विषय में

विद्यमान प्रेम ही भक्ति कहलाती है । इसी कारण से भाषाप्रेम, देशप्रेम, संस्कृतिप्रेम इत्यादि प्रेम भक्ति शब्द के विषय बन गये हैं ।

परन्तु परमेश्वर के प्रति जो प्रेम है वही वास्तविक भक्ति है क्योंकि भगवान् समस्त जीवों की आत्मा है । आत्मा माने स्वरूप । सबको अपने आप में प्रेम स्वाभाविक है । फिर भी हमारे निजस्वरूप को निर्णय नहीं करने के कारण अपने पत्नी, बच्चे इत्यादि में, शरीरेन्द्रिय आदि में ही आत्मबुद्धि हो गई है । इसलिए हमें शरीरादि निमित्त से विषयों के प्रति कामना है । परन्तु भगवान् ही हमारी आत्मा है, वही परमार्थ है – यह ज्ञान जिसको उत्पन्न हुआ है उसको कदापि अनात्मविषय के प्रति कामना होगी नहीं। **इसलिए परमेश्वर के प्रति परमप्रेम ही भक्ति है । इससे यह सिद्ध होता है कि अन्य विषयों के प्रति विद्यमान प्रेम तो वास्तव में कामप्रयुक्त ही है ।**

फिर देशभक्ति, पितृभक्ति, गुरुभक्ति इत्यादि प्रयोगों में भक्ति शब्द का प्रयोग क्या गलत है,ऐसी बात नहीं । जो–जो गौरव प्राप्ति करने के लिए योग्य है, उन सबमें भक्ति शब्द का उपयोग करना न्यायप्राप्त है । व्यावहारिक दृष्टि से वे भी मुख्यभक्ति ही हैं । परन्तु भगवद्भक्ति के साथ तुलना की तो वे भी गौणभक्ति ही हैं न कि मुख्यभक्ति । इतना ही नहीं किसी एक फलेच्छा से परमश्वर में भक्ति की तो वह भी निरुपाधिक परमेश्वर भगवद्भक्ति की दृष्टि से गौणभक्ति ही है । इसलिए ही भगवान् ने –

चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते (7–16, 17)

इस प्रकार भक्तों को चार समूह में विभक्त किया है । संकटपरिहारार्थ, कोई एक इष्टार्थ प्राप्त्यर्थ अथवा आत्मज्ञान के लिए भी भगवान् में भक्ति करने वाले भले ही उन्नत स्तर वाले हों, इन सबसे परमश्वर में ही अपार प्रेम के कारण

उसमें ही चित्त को समाधान कर लेनवाला ज्ञानीभक्त ही विशिष्टभक्त है, ऐसा निर्णय किया है । इसलिए आपके द्वारा लिखित देशभक्ति को भी भगवद्भक्ति का अंग बनाये हुए महात्मा लोगों को ही वास्तविक अर्थ में देशभक्त समझना चाहिए । भगवद्भक्ति में आदर उत्पन्न करने वाली संस्कृति का अनादिकाल से ही संवर्धन करते हुए आये वे लोग इस पुण्यभूमि भारतक्षेत्र में ही वास करते हैं । उन लोगों के कारण से ही नदी आदि ''तीर्थ'' कहलाते हैं । वे जहाँ भगवदनुसंधान किये हैं– देवालयादि स्थान– वे सब ''पुण्य क्षेत्र'' बन गये हैं । उनके द्वारा उपदिष्ट उत्तम संस्कृति के स्वरूप को लोगों को धीरे–धीरे समझाते आने से वास्तविक देशभक्ति रूढ़मूल बन जाती है । उस भक्ति के साधनरूप भगवन्नामस्मरण इत्यादि में लोगों को आदरबुद्धि होवे वैसा प्रयत्न भी उत्तमभक्ति ही है, ऐसा मेरा मत है।

***

48–संन्यासाश्रम (मार्च 1972)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पढ़कर समझ लिया । ''मरने के पहले एक दिन संन्यास स्वीकार करने की इच्छा है ऐसा आपने लिखा है । एक बार कैसे भी हो हलवा खा ही लेना चाहिए । इस इच्छा के बराबर आप संन्यास को मान लिया ऐसा मुझे लगता है । अर्थात् संन्यास माने कोई एक भक्ष्य का स्वाद लेना रूप एक घटना है, ऐसा आपके मन में बैठ गया है । इस प्रकार की विपरीत बुद्धि आपके मस्तिष्क में क्यों भासित हुई ? मैं नहीं जानता हूँ ।

संन्यास शब्द का अर्थ आपके मन में स्फुरण हुआ है क्या ? संन्यास का अर्थ छोड़ना । फिर संन्यास स्वीकार करना इस वाक्य का क्या अर्थ होगा ? ब्रह्मचर्य माने वेद को गुरु से प्राप्त करने का क्रम, गार्हस्थ्य अग्निपूजार्थ और प्रजा संतान के लाभार्थ धर्मपत्नी स्वीकार रूप आश्रम । बुढ़ापा आने पर जंगल जाकर

तप के द्वारा शरीर क्षीण करना वानप्रस्थाश्रम कहलाता है परन्तु इस प्रकार संन्यास नहीं । बस वह समस्त आश्रम कर्मों का परित्याग मात्र है ।

प्राचीनकाल में एक आश्रम संन्यास भी विद्यमान था । अन्य आश्रम कर्मों को परित्याग करके, निरंतर परमात्मा की उपासना करने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, इसलिए उस यत्याश्रम (यति लोगों का आश्रम) को स्मृति में विधान किया गया है । ऐसा बृहदारण्यक (शांकर) भाष्य में लिखा है उस आश्रम को स्वीकार करने की परंपरा अब लोप हो गयी है । अब संन्यास माने अवशिष्ट आश्रम कर्मों का परित्याग करके गुरु समीप में आत्मविषयक श्रवणमननादि को आचरण करना, इस अर्थ में मात्र शेष रह गया है । इसको **परमहंस पारिव्राज्य** कहते हैं ।

परन्तु एक बात को कदापि न भूलें । यद्यपि परमहंस को अन्य कोई भी कर्म कर्त्तव्यरूप में शेष नहीं है, तथापि शमदमादिरूप मानसकर्म को अवश्य करना चाहिए । जिसने वेदान्तश्रवणार्थ पारिव्राज्य का आश्रय लिया है उसे शम (मनोनिग्रह), दम (इन्द्रियनिग्रह), उपरति (बाह्यकर्मों का त्याग), तितिक्षा (शीतोष्ण, सुख–दुःख को मन में विकार के बिना ही सहन करना), श्रद्धा (शास्त्राचार्य वाक्यों में आस्तिक्य), समाधान (मन को उतार–चढ़ाव न लाते हुए हर समय समस्थिति में रखना) इन सबको न छोड़ते हुए अवश्य अनुष्ठान करते रहने चाहिए । कृतकृत्य हुए ज्ञानी में ये सब स्वभाव से विद्यमान रहते हैं । साधक को इन सबको प्रयत्नपूर्वक अपने जीवन में बैठाना चाहिए । इसी को वास्तविक संन्यास समझना चाहिए ।

जिसने कर्मेन्द्रिय को बलात् रोक रखा है वह कभी न कभी स्वभाव वशीभूत होकर किसी न किसी काल में कर्म अवश्य करेगा ही । जब उसको न करते समय मन में चिंतन अवश्य करेगा । यह तो मिथ्याचारी और वेष संन्यासी मात्र है

इससे अच्छा अपने आश्रम में ही रहते हुए (अर्थात् ब्रह्मचारी, गृहस्थ या वानप्रस्थ आश्रम) इन्द्रियों को रोकने का अभ्यास करते हुए, शास्त्रोक्त नित्यकर्मों

का आचरण करना अति श्रेयस्कर है।

और एक बात है । विहित कर्म न कर सके तो भी कोई बात नहीं । परन्तु जिसने पारिव्राज्य को धारण किया है उसके कुछ भी साधन न करते हुए निषिद्ध कर्म को करने पर उसको प्रत्यवाय दोष जकड़ लेना निश्चित है । इसलिए प्रयत्नपूर्वक सामर्थ्य के अनुसार शमादि के अनुकरण में लगे रहना चाहिए, साथ-साथ में स्त्री, धन, नास्तिक लोगों के संग को सर्वथा त्याग करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए । केवल स्त्री संग ही नहीं, स्त्रीसंगियों के संग को भी पूरी तरह छोड़ देना चाहिए, वैसे लोगों का आचरण, तत्सम्बन्धी विचार को भी सम्पूर्ण रीति से परित्याग करना चाहिए ।

ज्ञानी लोगों के परमार्थ संन्यास तत्त्व को और एक बार आपको विवरणपूर्वक अवगत् कराऊंगा। अतः मेरे इस उत्तर से थोड़ा कुछ प्रयोजन अवश्य मिल जायेगा, ऐसा मेरा विश्वास है ।

***

49-सर्वत्र भगवद्भावना (जून 1972)

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच गया है । उचित, अनुचित और उदासीन (अच्छा, बुरा, उदासीन) इस प्रकार तीन रूप से सम्पूर्ण प्रपंच प्रतीत होता है । यह प्रपंच तो वैचित्र्यरहित, एक रूप भगवान् से ही उत्पन्न हुआ है और इस उत्पत्ति और विविध व्यापार के लिए वह परमेश्वर ही निमित्त है इस प्रकार कैसे हम समझेंगे ? ऐसी आशंका मन में बार-बार उठती रहती है । कार्य के अनुरूप ही कारण होना चाहिए न? ऐसा नहीं है तो पानी से ही दही बन सकता है, सिकता (रेत) से ही तेल उत्पन्न कर सकते हैं न ? परन्तु ऐसा होता नहीं न ? कारण में तत्तत्कार्य होने के लिए कोई न कोई एक शक्ति चाहिए, ऐसा तर्क कहता है । जब

बात ऐसी है फिर एक रूपात्मक और केवल स्वरूप परमात्मा से इस प्रकार का चित्र-विचित्र जगत् उत्पन्न हुआ है, ऐसा कैसे विश्वास कर सकते हैं ? इतना ही नहीं शास्त्र एवं साधुजन कहते हैं कि- समस्त प्राणियों में एक परमेश्वर ही विद्यमान है ऐसी भावना करनी चाहिए । अच्छे सात्त्विक प्राणियों में भगवान् विद्यमान हैं ऐसी भावना को कैसे भी हो मन में बैठा सकते हैं परन्तु शेर, सांप इत्यादि दुष्टप्राणियों में भी भगवद्भाव कैसे करें ? इस शंका का परिहार कृपा करके बतलाइये, ऐसा आपने लिखा है।

सबसे पहले आप इस बात को समझना चाहिए कि अध्यात्मशास्त्र में उपदिष्ट अर्थों को शुरु-शुरु में श्रद्धापूर्वक मानकर भावना का पोषण करना चाहिए । उसके ऊपर शुष्कतर्क से शंकाओं का ढेर नहीं लगाना चाहिए । इसका अभिप्राय यह नहीं कि शास्त्र और तर्क में विरोध है । एक तत्त्व से विचित्र रूप अनेक पदार्थ उत्पन्न हुए से भासमान हो सकते हैं । इसके लिए सर्वजन-साधारण स्वप्नावस्था का दृष्टान्त है । यद्यपि स्वप्नानुभव केवल एक व्यक्ति को मात्र गोचर होता है, ऐसा सुनिश्चित् होने पर ही वहां (प्रतीयमान) चित्र विचित्र जगत कहाँ से आ जाता है । इस बात का निर्णय बड़ा से बड़ा तार्किक भी नहीं कर सकता है न ? जीवों के कर्मानुसार ही परमेश्वर ने भिन्न-भिन्न फल वाले जगत् की सृष्टि की है। ऐसा शास्त्र में उक्त है । इसलिए परमेश्वर प्रत्येक को भिन्न-भिन्न जन्म देकर क्यों पक्षपात करता है- इस संशय के लिए कारण नहीं रहता है।

उत्तम जीवों में जिस प्रकार परमात्मा का वास है, वैसे ही दुष्टप्राणियों में भी परमेश्वर विद्यमान है इस बात पर कैसे विश्वास करें ? इस प्रश्न का दो प्रकार से उत्तर दे सकते हैं । एक सुंदर पुरुष है, अनेक प्रकार के दर्पणों में उसके प्रतिबिम्ब भी भिन्न-भिन्न हैं परन्तु इतने मात्र से पुरुष की सुंदरता में कोई हानि नहीं हुई न ? आकाश सर्वत्र व्यापक् होने पर भी उसको विविध पदार्थों का

स्पर्श होता नहीं न ? इसी प्रकार एक ही परमेश्वर सात्विक राजस, तामस जीवों में समान रूप में विद्यमान होने पर भी असंग होने के कारण उसके स्वरूप में तत्तद् पदार्थों का गुणदोष चिपकता ही नहीं, ऐसा निश्चय कर सकते हैं, यह एक उत्तर है ।

दुष्टप्राणियों के दर्शनमात्र से भय लगता है । उनमें भी वहीं दयामय भगवान् विद्यमान हैं ऐसा कैसे विश्वास किया जाए ? इस प्रश्न के लिए मेरा यही उत्तर है कि पहले अच्छे प्राणियों में भगवद्भावना क्रम को आचरण में लाइये । **यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोशसम्भवम् ।।** (गीता 10-41) इस उक्ति से अनुसार जो-जो (पदार्थ) अपना विशालता, सौन्दर्य, उत्साहशक्ति, आश्चर्यजनकत्व इत्यादि प्रशंसापात्र रूप में प्रतिभासता है । उसी को यह भगवान् के तेजोंश से उत्पन्न है- इस भावना को पहले बैठाना चाहिए । परमेश्वर सर्वत्र व्याप्त होने के कारण समस्त प्राणियों में भी कोई न कोई प्रशंसनीय गुण रहता ही है । इस भावना को पोषण मिलने पर सर्वत्र भगवद्भावना अपने आप आपके वश हो जाती है । इस विषय में कोई शंका है तो फिर से लिखिए ।

***

50-भजन (अप्रैल 1972)

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच चुका है । भजन करने के लिए संगीत ज्ञान अत्यावश्यक है न ? फिर हमारे जैसे को भजन करना असम्भव हो जायेगा न ? ऐसा आपने संशय प्रकट किया है । इस संशय का मूल कारण भजन शब्द का अर्थ न समझना और पुरन्दरदास, सूरदास आदि भक्तों से रचित देव सम्बन्धी पद और नामों को रागपूर्वक गायन करना ही भजन है ऐसी लोकधारणा भी एक कारण है।

भजन का अर्थ सेवन करना । गुरुजन, बड़े–बूढे लोग और सम्पूर्ण जगत् के कारण परमेश्वर को भी निरहंकारयुक्त होकर सेवन करना ही भजन है । स्वयं परमेश्वर ने ही ऐसा कहा कि –

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिता: ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् । (गीता 9.13)

स्वार्थबुद्धि वाले लोग आसुरी प्रकृति के होते हैं । अपने भोग के लिए सब कुछ चाहते हुए जगत् मे स्थित सब कुछ अपने भोग के लिए ही है– ऐसी बुद्धि रखते हैं । यदि वे शास्त्रोक्त कर्म को करते भी हैं तो दम्भपूर्वक ही करते हैं । भगवत्तत्त्वज्ञान का फल नहीं है वह कर्म । आकाशादि जगत् का मूल कारण परमेश्वर है । ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त प्राणियों का भी वही कारण है, वही आत्मा है । इस प्रकार महात्मा जानते हैं, इस ज्ञान से ही वे भगवान् की महिमा का कीर्तन करते हैं । इन्द्रियनिग्रह शमदमदयाअहिंसादियों का प्रयत्नपूर्वक आचरण करते हुए परमेश्वर का स्मरण करना ही व्रत मानते हैं, दृश्यमान सम्पूर्ण जगत उन्हीं की विभूति है– इस भावना से उसको नमस्कार करते हुए अपने चित्त को उसमें ही स्थापित करके उन्हीं की उपासना करते हैं । इस प्रकार के ज्ञानीभक्तों का अनुकरण करना कामक्रोधादियों के आक्रमण से बचने के लिए और मन में भगवद्भाव को लाने के लिए भी एक उपाय बनता है । गोन्दावले ब्रह्मचैतन्य महाराज के एक शिष्य ''महाभागवत'' नाम से प्रख्यात हुए हैं । वे अन्त में करवीर पीठ के पीठाधिपति होकर ब्रह्मीभूत हुए थे। वह महात्माजी कहते थे कि ताल–स्वर के प्रति, राग के प्रति लक्ष्य मत रखो रामनाम ही मुख में आना चाहिए । हृदय प्रेम से भरना चाहिए । इस अर्थ वाले, एक अभंग की रचना भी किये हैं ।

रामनाम कीर्तन के समय स्वर–ताल गड़बड़ हो गया तो ? इत्यादि चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिए। रामनाम का गायन कर रहा हूँ । इस भावना को खण्डित

होने न दें । अर्थात् राग का आलापन मुख्य नहीं है । परमेश्वर का प्रेम हृदय में भरकर उफान आना ही मुख्य है । यहां ताल–राग स्वर का तिरस्कार करें ऐसा नहीं कहा गया है । **विषय रूपी राग मिटकर परमेश्वर की महिमा में अनुराग होना आवश्यक है ।**

भगवान् के नाम का रागपूर्वक गायन करते हुए उनके गुणकर्मलीलाओं को मन में बैठाकर, सम्पूर्ण जगत् उस महामहिमा का वेष ही है, ऐसा समझकर आनन्दित होना, उसी में लीन होकर भावसमाधि लाना ही भजन का लक्ष्य है। वृत्तपत्रिका पढ़ते हुए हिन्दू–मुसलमानों का परस्पर द्वेष, रूस, चीन, अमेरिका इत्यादि देश के जनजातियों में प्रतिस्पर्द्धा, भूमण्डल में घटित भीकर (भयंकर) युद्धविवरण को मन में घुमाना, दूसरों से सम्बन्धित गपशप बातों में ही कालयापन करना यह सब कार्य अन्त:करण को कलुषित करता है । अत: इस व्यसन को छोड़ देना चाहिए ।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्त: परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।। (गीता 10.9)

इस उक्ति के अनुसार परमश्वेर की तरफ चित्त को पलटकर उनके गुणगानों में रमण करते हुए परमेश्वर–सम्बन्धी परस्पर सम्भाषण का सुख संपादन के लिये यत्न करिए । वही वास्तविक भजन है । नामकीर्तन करने की रूढ़ि भी भजन के लिए एक उपायमात्र है । इस बात को लक्ष्य में रखना चाहिए।

***

51–ध्यानयोगार्थ पूर्वसिद्धता (जुलाई 1972)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच चुका है । आपने पूछा है कि ध्यानयोग को किस काल में किस प्रकार करना चाहिए ? अब आप जिस आश्रम (संन्यासाश्रम) को अवलम्बन किये हैं उसके लिए यह उचित प्रश्न है ही। ध्यानयोग के अनुष्ठान प्रकार को गुरुमुख से ही श्रवण करके, गुरु द्वारा दी गई सूचना को तत् तत्समय में अनुसरण करने से अधिक लाभ होता है । इसलिए इस लेखन में उस योग के लिए क्या–क्या पूर्वसिद्धता आवश्यक है इसके बारे में संक्षेप में लिखने के लिये प्रयत्न करता हूँ ।

आपकी एक गांव से दूसरे गांव की तरफ निरन्तर भ्रमण करने की पद्धति उचित ही है । किसी भी स्थान पर अधिक समय न ठहरते हुए किसी का भी विशेष परिचय न करते हुए रहने वाला ही परिव्राजक कहलाता है । इन्द्रिय और मन के ऊपर विजय प्राप्त करने के लिए जो सतत प्रयत्नशील है वह अन्वर्थ रूप से यति है । इसलिए भिन्न–भिन्न स्थानों के जलवायु गुण परिवर्तन से अनिवार्य रूप में शीतोष्ण का अनुभव होता है । उससे सम्भावित सुख–दुःखों के कारण मन में वृद्धि–हानि की भावना न आये, ऐसा प्रयत्नशील होना चाहिए । लोग नये होने पर भी उनके स्थूल परिचयमात्र से – ''यह अच्छा है, वह खराब है'' इत्यादि भावना उदय होती रहती है । इसी के साथ–साथ देशाचार भिन्न होने के नाते हमें अनुरूप न होने के नाते जनता के प्रति हमें दुरभिप्राय उत्पन्न होने की सम्भावना भी है ।

इसके लिए भी अवकाश नहीं देना चाहिए । अद्यतन काल में समाचार–पत्र भूलोक में रह रहे जनों को आर्थिक, सामाजिक अथवा राष्ट्रविषयक इत्यादि

जानकारी देते रहते हैं। वे विविध निमित्तों से, मन में विक्षेप होवे ऐसे रागद्वेष युक्त समाचार को कभी-कभी उत्प्रेक्षित वार्ता को भी समाचार के नाम से फैला रहे हैं। इसलिए समाचार-पत्रिका पढ़ना, लोगों से लौकिक (सांसारिक, पारिवारिक आदि) सम्भाषण करने की आदत को तत्क्षण से परित्याग कर देना चाहिए । गीता में छठे अध्याय का 8, 9 श्लोकार्थ को चिंतन करते रहना चाहिए ।

तारतम्य से प्रतीयमान समस्त जीवों में भगवान् समरूप में अवस्थित हैं । इस विषय को मन में लाकर परमेश्वर के प्रतीक रूप प्रणव का निरन्तर रूप में अनुसंधान करते रहना चाहिए । सद्य इतनी बात स्मरण में रखिए ।

***

52-साधना क्रम (अक्टोबर 1972)

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच चुका है । आपके द्वारा लिखा गया साधनाक्रम बहुत अच्छा है । ढलती आयु में इतना अनुष्ठानादि साधन कर रहे हैं आप । इस विवरण को सुनकर विस्मय हुआ ।

जप, स्तोत्र, पूजा यह सब साधना भगवद्भावना से ही अधिक फल प्रदान करते हैं । गायत्री पूजा में उक्त है कि भगवान् ज्ञानस्वरूप है । उसको स्मरण में लाना हमारी बुद्धि को ठीक रास्ते में चलाने के लिए सहायक होता है, परमेश्वर हमें यथार्थ अच्छी बुद्धि अनुग्रह करे- यही उस मंत्र का अर्थ है । इसी प्रकार शिवपंचाक्षरी का अर्थ है - ''मंगलरूप भगवान् को प्रणाम'' इस अर्थ का अनुसंधान करने पर अर्थात् मन में लाने से साधक जीवन में संभावित अमंगल का नाश हो जाता है । सामान्यत: जीव विषयसम्बन्धी भावनाओं का ही चिंतन करता रहता है । वैसा जीव जब ''सर्वत्र भगवान् विद्यमान है, उसके द्वारा ही मेरी इन्द्रिय-मन-शरीरादि का व्यापार चलता है'' इस भावना को मन में लाने लगता

है तब वही भावना सर्व पुरुषार्थ के लिए साधक बन जाती है, सर्वप्रकार का अनिष्ट हट जाता है ।

सन्ध्यावंदन, देवपूजा, अतिथिसत्कार इत्यादि नित्यकर्मों को करते रहना, पर्वकाल से सम्बन्धित नैमित्तिक कर्मों को भी करना, ये सब भगवद्भावना से समन्वित होने चाहिए । तभी वे सब अध्यात्म- साधन कहलाते हैं । जिन जातियों में इस प्रकार की अनुष्ठान पद्धति नहीं है उन्हें- बिस्तर से उठने पर और रात को सोते समय प्रतिदिन परमेश्वर को स्मरण करना चाहिए- ''हे परमेश्वर ! आज के दिन मैं जो व्यवहार करूँगा उसमें दुष्टबुद्धि न आने दें'' ऐसा प्रातःकाल करें । फिर सोते समय- ''हे भगवान् ! मेरे द्वारा आज जाने-अनजाने में जो पाप हुआ अर्थात् जो भी अनुचित कार्य किया हूँ- उन सबको क्षमा कर दो'' । ऐसा प्रतिदिन प्रार्थना करने का अभ्यास रखना चाहिए ।

यदि संभव हो आपके गांव में इतिहास-पुराणों का अर्थ विवरण करने वाले उपलब्ध हैं, तो उनसे अवश्य श्रवण करें । इससे बहुत सारे संशयों का निवारण होगा ।

***

53-चातुर्मास्य और महालय (नवम्बर 1972)

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आप जो प्रश्न पूछे हैं उसके लिए आमने सामने बैठकर ही उत्तर ग्रहण करना आवश्यक है । फिर भी संक्षेप में यहाँ उत्तर लिखता हूँ ।

चातुर्मास्य में गृहस्थ लोगों को कैसा व्यवहार करना चाहिए । यह विषय स्मृतियों में लिखित है। आहार-विहार में कैसे रहना चाहिए ? इस विषय को शास्त्र से, देशाचार और कुलाचार से भी समझना चाहिए । संन्यासी चातुर्मास्य के लिए संकल्प करके एक ही स्थान में वास करते हैं । नियतकाल समाप्त होते

ही सीमोल्लंघन (स्थान की सीमा पार, नदी के दूसरे किनारे जानारूपी कर्म) करने का नियम आज भी (कहीं-कहीं) देखने को मिलता है । मुख्यरूप से वर्षा ऋतु में (बरसात के समय) एक ही स्थान में रहना चाहिए । ऐसा गौतामादि स्मृतियों में कहा है । तब व्यास-पूजा करने की पद्धति भी है । उस क्रम में अब परिवर्तन योग्य अनेक विषय हैं । ये सब बातें आमने-सामने बैठकर ही विचारने योग्य हैं। मुख्यरूप में उस समय में संन्यासी लोगों को गृहस्थ लोगों से दिये गये भिक्षा-सत्कार से तृप्त होकर वेदान्तविचार में ही निरत होना अत्यावश्यक है।

वर्षाकाल सभी देशों में एक ही प्रकार का न होने के कारण संकल्प मात्र आचार के अनुगुण करते रहना दृश्यगोचर होता है । **कैसा भी हो संन्यासियों को प्रणवनिष्ठ होकर तत्त्वानुसंधान में ही कालयापन करना चाहिए, इस बात को कभी न भूलते हुए लक्ष्य में रखना चाहिए ।**

महालय, पितृतुष्ट्यर्थ गृहस्थ द्वारा किया जाने वाला कर्म है । अब उसने त्यौहार (उत्सव) का रूप धारण कर लिया है । अत: लोग भोजन के विस्तार में ही रुचि दिखाने लगे हैं । आजकल देवता, ऋषि और पितृदेवताओं के अस्तित्व में श्रद्धा कम हो गयी है । देवतादि के तृप्त्यर्थ भक्तिपूर्वक कर्म करने के विषय में आदर भी शिथिल हो चुका है । देवतार्चन, वेदाध्ययन-सम्बन्धी उत्सर्जन, उपाकर्म, ऋषितर्पण, पितृश्राद्ध, इनके रहस्य को श्रुति-स्मृति-पुराणों के आधार से जनता को समझाने वाले और अपने आदर्श व्यवहार से लोगों को सन्मार्ग की तरफ आकर्षित करने वाले महात्माओं की आवश्यकता अब बढ़ गयी है ।

***

54–परमहंसपारिव्राज्य (दिसम्बर 1972)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पढ़ लिया । आप तीर्थक्षेत्रों के दर्शन करते हुए वहां के दृश्यविशेष में आसक्त न होते हुए आगे–आगे भ्रमण करते जा रहे हैं । यह तो हर्ष का विषय है । तुर्याश्रम में स्थित लोगों के लिए यह एक भूषण ही कहना चाहिए ।

परन्तु दो प्रकार के परमहंसपरिव्राजक हैं । वे परमार्थतत्त्व के विज्ञान को संपादन करने वाले विविदिषु हो सकते हैं अथवा परमार्थ–तत्त्व को साक्षात् अनुभव करते हुए जहाँ–तहाँ परमेश्वर की विभूति को देखकर भावसमाधि से पुनः–पुनः तत्त्वानुसंधान में डूबने वाले जीवन्मुक्त विद्वत्संन्यासी भी रहते हैं ।

जो लोग पारिव्राज्य के लिए कोई प्रमाण नहीं है– ऐसा कहते हैं उन लोगों के साथ विवाद करना छोड़ देना चाहिए **एतं वै तमात्मानं विदित्वां ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वितैषणायाश्च लौकेषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचार्यं चरन्ति ।। (बृ. 3–4)** इस श्रुति के कथनानुसार अविद्याकल्पित देहेन्द्रिय संघात को ही 'मैं' रूप में अभिमान करके जो भ्रान्त हो गये हैं । उनके लिए जब तक वह भ्रांति है तब तक लौकिक वैदिक व्यवहार है । जब यह सब मिथ्या प्रतीति मात्र है, अपने से भिन्न द्वैत से रहित अद्वितीय– ''ब्रह्म ही मैं हूँ'' यह अनुभव जिसमें विद्यमान है उसके लिए कौनसी विधि लगेगी ? इस ज्ञान की महिमा से ही उसके लिए सर्वकर्म संन्यास स्वतः सिद्ध है ।

परन्तु हमारे जैसे लोग जो कर्मपरित्याग कर लिए हैं, उनको प्रत्यवाय नहीं लगेगा क्या ? ऐसा प्रश्न आपको उठा है । इस प्रश्न का उत्तर यही है कि जिसमें इस प्रकार का तत्त्वज्ञान नहीं है तथापि तत्त्वज्ञानप्राप्ति की इच्छा है उसके लिए **एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति । (4.4.22)** इस श्रुति में

विविदिषा संन्यास का विधान किया गया है । ब्रह्मसूत्र (सू.3.4.20) विधिर्वा धारणवत् – इस सूत्र के ऊपर आचार्य शंकरजी के द्वारा लिखित भाष्य को देखना चाहिए । उस सूत्र के भाष्य में इस प्रकार लिखित है– **''ब्रह्मसंस्थः'' इति हि ब्रह्माणि परिसमाप्तिः अनन्यव्यापारतारूपं तन्निष्ठत्वम् अभिधीयते । तच्च त्रणायाम् आश्रमाणां न सम्भवति । स्वाश्रमविहितकर्माननुष्ठाने प्रत्यवायश्रवणात् । परिव्राजकस्य तु सर्वकर्मसंन्यासात् प्रत्यवायो न सम्भवत्यननुष्ठाननिमित्तः । शमदमादिस्तु तदीयो धर्मो ब्रह्मसंस्थताया उपोद्बलको न विरोधी। ब्रह्मनिष्ठत्वमेव हि तस्य शमदमाद्युपबृंहितं स्वाश्रमविहितं कर्म यज्ञादीनि चेतरेषाम् । तद्व्यतिक्रमे च तस्य प्रत्यवायः ।।**

इस वाक्य के अभिप्राय को अच्छी तरह मन में आवृत्ति करते रहना चाहिए । श्रुति में कथित शमदमादि और स्मृतियों में उक्त ज्ञानसाधनो को भी ठीक–ठीक जीवन में बैठाकर अन्य समस्त कर्म परित्याग करके ब्रह्मात्मरूप में स्थित होने के लिए प्रयत्न करना ही परिव्राजक के लिए विहित आश्रमकर्म है । उसको त्याग देने पर परिव्राजक को निश्चितरूप में प्रत्यवाय लगता है । काषायवस्त्र, दण्ड, कमण्डलु इत्यादि के धारण मात्र से ही अपने को परिव्राजक कहलाने वाले दाम्भिक रावण संन्यासीजन है । उनके लिए एषणात्रय मल भी नहीं छूटा है, इसके साथ शास्त्रविहित आश्रमकर्म परित्याग का प्रत्यवायदोष भी लग जाता है । ब्रह्मानुसंधान को त्याग करके लौकिक विचारों में ही मन लगाने से पातित्य भी होता है ।

इसलिए आप कहीं भी रहिए परन्तु ब्रह्मतत्त्व का अनुसंधान मत छोड़िए । उपनिषत्प्रोक्त परमात्मस्वरूप को मनन करते रहना चाहिए ।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।। (गीता 4.22)

इस कथनानुसार शरीरस्थिति मात्र के लिए आवश्यक अन्नपानादि मिलने पर उतने में ही तृप्त होकर यदि वह भी न मिले तो मन में उद्वेग को न लाते हुए, शीतोष्णादि द्वन्द्व को सहन करते हुए किसी में भी वैरबुद्धि न रखते हुए व्यावहारिक 16दृष्टि से हो रहे कर्म में ही कर्त्तव्यबुद्धि को परित्याग कर, बाहर दृश्यमान विश्व में ही यह सब ब्रह्मात्मा ही है । इस बुद्धि को जीवन में लाते हुए परिव्रजन (संचार) में रहने का प्रयास करिए । इससे आपको आत्मज्ञान प्राप्त होकर ''ब्राह्मीस्थिति'' अतिशीघ्र हो जाती है । मेरी प्रार्थना है कि भगवत्पादाचार्य जी के अनुग्रह से आपको यह स्थिति बिना विलम्ब प्राप्त हो जावे।

***

55–पतिभक्ति (जनवरी 1973)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपके पत्र को पढ़कर के देख लिया । पति को परमेश्वर रूप में कैसे भावना करें ? मैं प्रातःकाल से सायंकाल तक अनवरत परिश्रम करती रहती हूँ परन्तु पति कुछ न कुछ बहाना बनाकर कोई न कोई आक्षेप उठाकर फटकारते रहते हैं वैसे व्यक्ति को कैसे भगवान् समझें ? इत्यादि आपने लिखा है । गौरीपूजा भी प्रतिदिन करती हूँ फिर भी मन में शान्ति नहीं ऐसा भी आपने लिखा है ।

आपके पत्र को शुरू से लेकर अन्त तक पढ़ने से कुछ अभिप्राय मेरे मन में उदय हुआ है । इस विषय के बारे में कुछ अभिप्राय को यहाँ लिखता हूँ । शान्ति से पढ़कर इस उत्तर से आपको समाधान मिला या नहीं ? इसके बारे में लिखिए । आपके कुटुम्ब की स्थिति के बारे में भी लिखिए ।

आपके घर में सास–ससुर रहते हैं क्या ? आपके प्रति उन लोगों की क्या भावना है? घर पर जीवनयापन के लिए (आर्थिकरूप में) कोई समस्या नहीं है न? मेरा अनुमान है आपकी सास जीवित है। क्या वे आपको बहुत अधिक

कामकाज बताती हैं? आप कितनी पढ़ी लिखी हैं? आपको पढ़ने के लिए अथवा पुराणश्रवण इत्यादि सत्कालक्षेप के लिए कोई अवकाश है क्या? क्या आपके और सास के बीच में मतभेद हैं ? इससे आपके पतिदेव नाराज हैं क्या? क्या वे आपको सर्वदा डाँट-डपट सुनाते रहते हैं? वे उद्योग के निमित्त बाहर चले जाने पर घर में आपकी मन:स्थिति कैसी रहती है ? इन सबकी जानकारी दीजिए ।

सद्य मेरा अनुमान सही है तो इस कागज में स्थित बुद्धिवाद के प्रति मन लगाइये, उससे लाभ उठाइये । यदि ऐसा नहीं है तो आप इस पत्र को फाड़कर फेंक दीजिए । आपके परिवार की वस्तुस्थिति के बारे में एक और पत्र लिखिए तब मैं सूचनाओं को फिर से लिखूंगा ।

किसी भी परिस्थिति में हों मन:समाधान को संतुलित (बरकरार) रखना अत्यावश्यक है । भगवान् के विषय में आप पत्र लिखे हैं इसलिए अब उस विषय के बारे में दो वाक्य लिखता हूँ ।

''भगवान्'' माने पूजा में रखी गई एक गुड़िया सी है, उसको अलंकार करके, पूजा, फल आदि का नैवेद्य देने पर भी- इसके बारे में वह तत्त्व कुछ भी प्रतिक्रिया नहीं करता है- ऐसा समझना गलत है । वह तो आपके सास या पति से भी आपके समीप विद्यमान है, आपसे होने वाला कार्य, आपका विचार, वार्तालाप इन सबका प्रेरक होते हुए, उसके लिए योग्य फल अवश्य उपलब्ध हो ऐसा घटाते रहते हैं । वह भगवान् आपके माता-पिता, बन्धु परिवार से भी बढ़कर आपका हित चाहने वाला है । वे आपका स्वरूप होकर विद्यमान हैं ।

बड़े-बूढ़े लोगों में परमेश्वर की भावना करनी चाहिए इस वचन का यही अर्थ है कि वे बाहर से कैसा भी बर्ताव करें, उनके भी अन्तरात्मा भगवान् ही हैं । इस भाव को मन में रखना चाहिए, शास्त्रदृष्टि से देखने पर - सात्त्विक, राजसिक, तामसिक रूप में तीन प्रकार से विभक्त लोगों का व्यवहार, वाणी भिन्न-भिन्न होने

पर भी उनकी आत्मा वास्तव में भगवान् ही है । ज्ञानीजनों के इस उपदेश को स्मरण में रखकर नम्रतापूर्वक व्यवहार करना चाहिए । अब आपके साथ किसी कारणवशात् कटुता से व्यवहार करते हों चाहे वे पति, सास या अन्य बन्धु हों, इसका कारण मेरा कर्मफल ही है, इस संनिवेश को अपने (सद्) व्यवहार से ही काफी हद तक ठीक कर सकती हूँ– इस प्रकार विश्वास रखिए ।

जब आप गौरीपूजा करती हैं तब यह भावना मन में बैठाइये कि समस्त जगत् की जननी और पोषण करने वाली माता ही इस (गौरी) रूप में विराजमान है । इसी प्रकार मेरा उपास्य भगवान् ही पति, सास आदि सब रूपों में विद्यमान है । इस गौरव के साथ सेवा करते रहिए आपके शान्तस्वभाव का परिणाम उन सब में होकर वे भी आपके विषय में सौम्यता से व्यवहार करना आरम्भ करेंगे । अब इस साधन को अपनाकर इसके परिणाम को मुझे लिखिए ।

***

56–संन्यास का तत्त्व (अप्रैल 1973)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच चुका है । मैं अब तुरीयाश्रम को स्वीकार कर लिया हूँ । इससे मेरे मन का बहुत बड़ा बोझ उतर गया है । अब सद्गुरु के उपदेश द्वारा प्राप्त प्रणव को सतत जप करके कृतार्थ होने का संकल्प किया है । मंत्रजप करते समय अनुसंधानात्मक कोई रहस्य क्रम है क्या ? कृपया अवगत कराइये, ऐसा आपने पूछा है।

मेरे मन में जो है उसको साफ–साफ शब्दों में बताने से आपको अन्यथा भाव नहीं होगा ऐसा विश्वास करके दो वाक्यों को यहाँ लिखने जा रहा हूँ ।

वास्तव में परमहंसपारिव्राज्य कोई एक आश्रम नहीं है । हाँ, इससे अतिरिक्त एक स्मार्त संन्यास है परन्तु इस परमार्थ संन्यास को उसी प्रकार एक आश्रम

समझना गलत है । **''यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्''** जिस दिन वैराग्य हो गया उसी दिन ही आश्रम छोड़कर चले जाना चाहिए– इस जाबालश्रुति में पारिव्राज्य के तत्त्व को सुस्पष्ट रूप में समझाया गया है ।

पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा यह तीन प्रकार की कामना जिसके अंदर नहीं है उसी को वास्तविक वैराग्य है । इस लोक की भोगेच्छा, प्रजासन्तति प्राप्ति, परलोक–सुख इनमें जिसको सर्वथा चाह नहीं है, जो इस पारिव्राज्य को धारण करके परमात्मतत्त्व के श्रवण–मनन–निदिध्यासन में रत है वही परमहंस बन सकता है । विषयसुख की चाह को मन में भरा हुआ, केवल वेषधारक कदापि परमहंस नहीं हो सकता है ।

आश्रम–संन्यासी हैं और परमात्मतत्त्व जानने की इच्छा रखते हैं– उन लोगों के लिए प्रणवजप शास्त्रों में उक्त है । केवल शब्दोच्चारण से ज्ञान होता है ऐसा आप समझते हैं तो जल्दी से जल्दी उस भावना को हटा देना अच्छा है ।

विषयासक्ति को सम्पूर्णरूप से परित्याग करके तत्त्वज्ञानी गुरु का सेवन करते हुए श्रवण–मनन किये बिना विविदिषा संन्यास का ध्येय उपलब्ध नहीं होता है । इस बात पर दृढ़तापूर्वक विश्वास करें । अधिक जानकारी दूसरे पत्र में लिखूंगा ।

***

57–जप का मर्म (मई 1973)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र प्राप्त हो गया है । जप वीर्यवत्तर होने के लिए साधन किस प्रकार होना चाहिए ? ऐसा आपका यह तो बिल्कुल पूछने योग्य प्रश्न है । इस विषय मे दो वाक्य लिख रहा हूँ ।

प्रणव को ही प्रतीक मानकर जप करते रहना शालिग्रामादि में विष्णु आदि बुद्धि करने वाले उपासक के सदृश, शब्द रूप होते हुए भी प्रकृति में बीजरूप में

विद्यमान उस प्रणव को ही परमात्मरूप में भावना करना, इसके अतिरिक्त उस प्रणव से भी सूक्ष्म और उससे भी व्यापक परतत्त्व का स्वरूपचिन्तन करते रहना चाहिए। इसके लिए लोकान्तर और कालान्तर में फल होता है ।

यह भगवान् का नाम ही है जो इस प्रकार भक्ति से प्रणव को जप कर रहे हैं, (उनका) इस नाम के वाच्यरूप भगवान के स्वरूप को जीवन पर्यन्त चिंतन करते रहना दूसरी प्रकार की प्रणवोपासना है । इन उपासना प्रकारों को और उनसे कालान्तर में प्राप्य फलों को भी प्रश्नोपनिषद् में वर्णन किया गया है । उसमें अनुसरण करने योग्य धारणायोग क्रम भगवद्गीता के आठवें अध्याय में विस्तृत (विवेचन) किया गया है । इन दोनों प्रकार की उपासना और वहाँ अनुसरण करने योग्य साधना प्रकार को सद्गुरु उपदेश से समझकर अनुष्ठान करना चाहिए ।

प्रणवोपासना श्रद्धाभक्ति से करने योग्य है । उपासक को उपास्य परमात्मतत्त्व का नित्यनिरन्तर चिंतन करते हुए तन्मय होने का ध्येय रखना चाहिए । अब जो तत्त्वज्ञान है वह सद्योमुक्त्यर्थ है । उस तत्त्वज्ञान का अर्थ परतत्त्व ओंकार ही है – यह गूढ़ार्थ माण्डूक्योपनिषद् और उसके विवरण श्रीगौडपादकारिका में लिखित है । उसको साक्षादनुभव से ही जानना योग्य है । इसलिए यहाँ लिखना असाध्य है । सद्य आप पूर्णशक्ति लगाकर यति (संन्यासी) के लिए उक्त क्रम से ही प्रणवजप करते हुए प्रणव ही पर ब्रह्मस्वरूप है इस श्रद्धा को प्राप्त करिए । सद्गुरु के द्वारा आपको कालक्रम से उपदेश लब्ध हो और उसका फल प्राप्त होवे ऐसी भगवान् से प्रार्थना करता हूँ ।

***

58–अध्यात्मविद्या का कथन किसके लिए है ?

(जुलाई 1973)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पढ़ते हुए मुझे उत्तर लिखने की इच्छा हुई । मैं अधिक पढ़ी–लिखी नहीं हूँ । पढ़ी– लिखी स्त्रियों को भी वेदाधिकार नहीं ऐसा बुजुर्ग लोगों का कथन मैंने श्रवण किया है । घर के कामकाज से ही हमें फुरसत नहीं है फिर अध्यात्मविद्या कैसे वश में होवे ? हमें पुरुषार्थ कैसे प्राप्त हो? इस प्रकार आपने लिखा है –

किसने कहा कि अध्यात्म विद्या में केवल पुरुषों को ही अधिकार है । आत्मा सम्पूर्ण मनुष्यों का इतना ही नहीं समस्त प्राणियों का भी आत्मा (स्वरूप) है । आत्मस्वरूप जानने की इच्छा जिनको है वे सब अध्यात्मविद्या के अधिकारी हैं । स्त्री हो, वैश्य हो, शूद्र हो मेरा आश्रय लेने से उत्तम गति को प्राप्त होते हैं । (गीता 9–32) ऐसा भगवान् ने स्पष्ट वचन में कहा है । बाह्यविषयभोग चिंता में डूबे रहने वाले पुरुष आदि श्रोत्रिय ब्राह्मण या ऋषि भी हो जावें कदापि अध्यात्मविद्या के अधिकारी नहीं बनते हैं ।

दुराचरण को छोड़ना चाहिए । इन्द्रियों का निरोध करके मन को शान्ति की तरफ घुमाना चाहिए । इस प्रकार करने वाले – चाहे स्त्री हों, पुरुष हों, वर्णाश्रम में रहें या न रहें, जो परमेश्वर की ओर लौटने का अभ्यास करते हैं, कोई भी हों, वे अवश्य परमश्वेर के कृपापात्र बन जाते हैं । पाप माने परमेश्वर को पीठ दिखाकर विषयों की तरफ भागने की प्रवृत्ति । इसको परित्याग करके भगवन्नामस्मरण, स्तोत्र, मंत्रजपादि में जो निरत है वह भगवान् के लिए अत्यन्त प्रिय हैं । इसको छोड़कर स्वेच्छा से बर्ताव करने वाला अनेक शास्त्र अध्ययन किया विद्वान भी भले ही हो, उसके लिए भगवान् हृदय में नित्य रहने पर भी

उसके तत्त्व का मन में स्फुरण नहीं होता है । परमेश्वर के प्रति प्रेमरूप भक्ति ही अध्यात्मज्ञान के लिए मुख्य साधन है ऐसा दृढ़निश्चय करना चाहिए ।

***

59–अब तो समय का सदुपयोग क्यों नहीं करते हो (अगस्त 1973)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पढ़ा । अभिप्राय ज्ञात हुआ । दिन–प्रतिदिन संसार में तापत्रय बढ़ रहे हैं। मुझे अभी किंचिन्मात्र विराम नहीं है । आयु भी हो चुकी है । इस स्थिति में मैं यह नहीं जानता हूँ कि अध्यात्मविद्या के लिए कब, कैसे समय का विनियोग करना चाहिए ? मेरी स्थिति के अनुकूल कुछ सूचना दीजिए । आपकी चिंता देखकर मन में हंसी का प्रादुर्भाव हुआ । तदनन्तर आपके प्रति करुणा भी उत्पन्न हुई ।

प्रतिदिन समाचार–पत्र में वाहनों के, रेलयान के, विमान के अपघात से हो रहे आकस्मिक मरणों के समाचार प्रकाशित होते रहते हैं । अकाल, अतिवृष्टि आदि से लोग जहाँ–तहाँ त्रस्त हैं । ये सब छोड़ दीजिए, टिक–टिक घड़ी की आवाज आपके आयुक्षरण की सूचना अनुक्षण दे रही है । आप इसको खतरे की घण्टी, ऐसा क्यों नहीं समझ रहे हैं । शरीर में उत्पन्न हो रहे रोग, वार्धक्य के कारण नेत्र, कान, हाथ, पैर की शक्ति का ह्रास होना साक्षात् आपको अनुभव में आ रहा है कि नहीं ? परिवार पोषण कैसे करें ? मेरे मरने के बाद इन लोगों की क्या गति है ? इस प्रकार आप चिंता में डूबे हैं । परन्तु आपको मैं इन सबको छोड़कर कहीं जा रहा हूँ । मेरी क्या गति होगी ? ऐसी चिंता क्यों नहीं आ रही है।

अपने लिए ही घर, बच्चे, पत्नी, परिवार, अड़ोस–पड़ोस चाहिए न ? इतना नहीं समस्त लोकों को भी अपनी कामना के लिए चाहते हैं ? अब तो वृत्तपत्रिका

पढ़ने का व्यसन कम कर दीजिए । आज से ही मुझे क्यों यह जन्म मिला है, आगे मेरी क्या गति है, यह चिंतन शुरू करिए । आपकी समस्त इन्द्रियाँ ढीली पड़ती जा रही हैं । यही भगवान् के द्वारा आपके लिए दी गयी सतर्कता की सूचना समझनी चाहिए । आयु, बल, इन्द्रिशक्ति, मन की विचारशक्ति क्षीण होते हुए आपको सावधान कर रहे हैं कि अब तो ''मैं'' के बारे में विचार करना शुरू करो । परमेश्वर उसी तरफ आपका मन लगावे ।

***

60–परमहंस की निष्ठा (दिसम्बर 1973)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र हाथ में आ गया है । परमहंस को सतत रूप से एक स्थान से दूसरे स्थान की तरफ भ्रमण करते रहना चाहिए । स्थान–स्थान पर वेदान्त–प्रचार, उपन्यासादि को भी करना चाहिए, ऐसी आपकी धारणा है । परन्तु इस काल में वास्तविक संन्यासी को क्या नहीं करना चाहिए । इस विषय को समझना आवश्यक है ।

जो परमहंस है उसे ग्रंथ–व्याख्यानपरायण नहीं होना चाहिए । तत्त्वनिर्णय के लिए जो अपने पास आते हैं उनके लिए वेदान्तविचार श्रृंखला को स्वयं जितना जानता है उतना समझाना उसका कर्त्तव्य है ही परन्तु भाषणादि के द्वारा विद्वत्ता प्रदर्शन करने के लिए कभी भी प्रयत्न न करें ।

ज्योतिष, सामुद्रिक, वैद्यक मंत्रतंत्रादि के उपदेश इत्यादि के द्वारा ख्याति लाभ, पूजा प्राप्त करने का प्रयास न करें ।

परमहंस को मुख्यरूप से ब्रह्मसंस्थ होना – अर्थात् उपनिषदर्थ का मनन करते हुए उसका सार जो प्रणव है, उस प्रणव का अर्थानुसंधान करना नित्य कर्त्तव्य है । शांकरभाष्य के अर्थ को बार–बार मूलानुसार मनन करते रहना

चाहिए । लौकिक लोगों का परिचय बढ़ाकर तत्त्व से प्रच्युत नहीं होना चाहिए । इस विषय के बारे में आगे कभी विस्तार से लिखूंगा ।

***

61–भगवान् से विनय करना (जनवरी 1974)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पढ़कर देख लिया । सर्वसाक्षी परमेश्वर निर्गुण है । इसलिए प्रार्थना करने के लिए सगुण ब्रह्म को ही चुनना चाहिए– ऐसी आपकी भावना है न ? इस विषय में दो वाक्य लिखने की इच्छा है ।

ब्रह्म में परब्रह्म और अपरब्रह्म रूप में दो विधा है, अपरब्रह्म, परब्रह्म से नीचे की श्रेणी का है । यदि इस प्रकार आप समझ गये हैं तो उस भावना को जल्दी से जल्दी हटाना अच्छा है।

1. यत्र अविद्याकृतनामरूपप्रतिषेधात् अस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत्परम् । तदेव यत्र नामरूपादि विशेषेण केनचिद् विशिष्टमुपासनाय उपदिश्यते ''मनोमय:'' प्राणशरीरो भारुप:'' इत्यादिभि: शब्दै: तदपरम् ।। (सू.भा.4.3.14)

2. एवम् एकमपि ब्रह्म अपेक्षितोपाधिसम्बन्धं निरस्तोपाधिसम्बन्धं च उपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यते ।। (सू.भ.1.1.12)

इन दो वाक्यों को देखिए । भगवद्गीता भाष्य के प्रारम्भ में आचार्य शंकर जी ''नारायण: परोऽव्यक्तात'' इस पौराणिक श्लोक को उदाहृत किये हैं । वही भगवान् नित्य शुद्ध मुक्त स्वभाव वाला होने पर भी अपनी प्रकृति को वश में करके उत्पन्न हुआ सा, देह वाला–सा प्रतीत होते हुए लोकानुग्रह करता है ऐसा आचार्य शंकरजी लिखे हैं । इस विषय को मन में बैठाना चाहिए ।

सर्वप्रकार के विकार एवं विशेषरहित भगवान् ही भक्तों को अनुग्रह करने के लिए उपाधिवश से सगुण और साकार प्रतीत होता है, तब भी उसके नित्य निर्विशेष स्वभाव में कोई न्यूनता नहीं आती है ।

इसलिए परिशुद्ध भगवान् ही एकमात्र परमार्थतत्त्व है । वही समस्त लोकों का साक्षी आत्मा है । वही भगवान् अभी भी यहीं मेरे शरीर में ही मेरा अन्त:करण साक्षी और प्रेरक है ऐसा दृढ़ निश्चय करिए । भगवत् प्रार्थना को श्रद्धापूर्वक करने का अभ्यास रखिए । आपको निर्गुण–निर्विकल्परूप से उसे अनुभव में लाना असाध्य हो सकता है परन्तु आपको संकष्टपरिहार के लिए, इष्टार्थ पूर्ति करने के लिए वही सर्वसमर्थ है । समस्त देवतारूप से और पितररूप से भी जनता को अनुग्रह करने वाला महामहिमों का आत्मा भी वही है–ऐसा दृढ़ विश्वास करिए ।

''चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ । '' (गीता 7.16) इस प्रकार भगवान् ही आज्ञा दिये हैं । पुण्यकर्म के संस्कार से ही हमारे इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट निवृत्ति को भगवान् ही गति है– ऐसी दृढ़ भावना होती है । स्मृति–पुराणों में वर्णन के अनुसार भगवान् सगुण और साकार रूप में दर्शन देकर भक्तों की प्रार्थना पूर्ण कर सकता है । भावना–प्रकर्ष से कलियुग में भी भगवान् का साक्षात्कार हो सकता है । **प्रार्थना करते समय भगवान् माता–पिता से भी अधिक वात्सल्य से हमारी विनन्ति को सुनता है ऐसा विश्वास करिए ।** अनिष्टनिवृत्ति, इष्टप्राप्ति, ज्ञान के प्रति जिज्ञासा सब उसकी प्रार्थना से ही उपलब्ध होते हैं ।

***

62–आत्मा सर्वव्यापक् है (मार्च 1974)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच गया है । **''परमात्मा सर्वगत है''** इसका क्या अर्थ है ? आत्मा सर्वव्यापक् है तो हम क्यों ऐसा समझ नहीं पा रहे हैं ? यह शंका है ।

आप सर्वव्यापी शब्द के पूर्ण अर्थ को नहीं समझे हैं, ऐसा मेरा अनुमान है । वस्त्र में जल व्याप्त है इसका अर्थ वस्त्र भी दिख रहा है और वह जल से गीला हो गया यह भी भासित होता है परन्तु सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त परमात्मा क्यों लोगों के ज्ञान का विषय नहीं बन रहा है ? यह तो है आपके प्रश्न का अभिप्राय ?

परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है । **केवल परमेश्वर ही सत्य है । उसको ही समस्त जन स्थूलदृष्टि से जगत् समझ बैठे हैं । सम्पूर्ण वस्त्र रूई से बना है, घड़ा, सुराही इत्यादि सब मिट्टी मात्र है, बर्फ का गोला पूर्ण रूप में जल ही है, इसी प्रकार आकाश ही वायु आदि भूतरूप से प्रतिभास रहा है ।** वैसे ही परमात्मा यह सम्पूर्ण जगत होकर प्रतीत हो रहा है । इस तत्त्व को धारण करके गीता में कथित इन वाक्यों के आशय मन में बैठाने का प्रयास करिए ।

1. पुरुष: स पर: पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया । यस्यान्त:स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।। (गीता 8.22)

2. मया ततमिदं सर्व जगदव्यक्तमूर्तिना । मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित: ।। (9.4)

3. वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम । त्वया ततं विश्वमनन्तरूप । (गीता 11.38)

4. यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं

विन्दति मानव: ।। (गीता 18.46)

पुराण में यह श्लोक है– **यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ।।** सबको व्याप्त कर रखा है, सबको अपने अंदर कर लिया है, स्वयं अकेला शेष रहता है, इस लोक में जीवभाव से सबको अनुभव कर रहा है, सतत रूप से सर्वत्र वह अकेला ही विद्यमान है । इसलिए उसको आत्मा कहते हैं ।

***

63–आत्मैकत्व विद्या में निष्ठा (मई 1974)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र प्राप्त हुआ । तत्त्वज्ञानप्रधान ग्रंथों के पठन, सत्संग इत्यादि साधनाओं को अवलम्बन करने से अद्वैत ही परमार्थ है, ऐसा निश्चय मुझे हो चुका है परन्तु प्रारब्ध शेष से बार–बार व्यावहारिक विषय मन में आकर व्यथा उत्पन्न कर रहे हैं । इससे पार होने के लिए कोई उपाय कृपा करके बतलाइये, ऐसा आपने पूछा है ।

यह बहुमुख्य प्रश्न है । ग्रंथ–कालक्षेप से, तत्त्वज्ञ लोगों के साथ विचारविमर्श करने से मेरा अज्ञान निवृत्त हो गया है । ऐसा निश्चय जिज्ञासु को होना स्वाभाविक है । इसके बारे में एक बात को मन में धारण करना अत्यावश्यक है । बुद्धिप्रधान होकर सब कुछ तर्क से निश्चय कर सकते हैं, ऐसे आप भ्रान्त हो गये तो तर्क और अनुभव के वैलक्षण्य को महत्व न देने का अपाय रहता है।

मनुष्य को देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि में मैं–मेरापन किसी के बिना सिखाये ही होता रहता है परन्तु 'मैं बुद्धि' एक–एक स्वप्न में भिन्न–भिन्न होती है, सुषुप्ति में तो 'मैं बुद्धि' रहती नहीं, फिर हम सब (स्वप्न, सुषुप्ति को) अनुभव कर रहे हैं । इस विषय को तत्त्वज्ञ लोगों से समझकर उस अनुभव में ही स्थिर हो जाना

चाहिए । तब तक केवल तर्क से उत्पन्न समाधान कदापि पूर्णतृप्ति को नहीं दे सकता है ।

परमेश्वर को अनवरत प्रार्थना करिए । तब ज्ञान साधन स्थिर होकर सत्यस्वरूप आत्मा में ही मैं रूप अनुभव उत्पन्न होता है ।

***

64–ऋजुभाव (जून 1974)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच गया । अभिप्राय ज्ञात हुआ । अधिकारी इसी जन्म में सद्योमुक्ति प्राप्त कर सकता है, ऐसा शास्त्र कहते हैं । आचार्य शंकरजी ने भी स्थान–स्थान पर इस बात की पुष्टि की है । परन्तु कलियुग में भी लोगों को ऐसा सौभाग्य प्राप्त होगा क्या ? जीवित रहते हुए एक मुक्त हुए महात्मा कैसे रहते हैं ? हमारे जैसे अल्पज्ञ इस परमपुरुषार्थ को प्राप्त कर सकते हैं क्या ? आपका सच्चा अभिप्राय सुनाइये, ऐसा आपने लिखा है ।

यह तो पूछने योग्य प्रश्न है । श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा कि – **अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्य: सम्यग्व्यवसितो हि स: ।।** (गीता 9.30) इस श्लोकार्थ को मन में बैठाइये । मन:पूर्वक अनन्यभक्ति से भगवान् की शरण लेने वालों को अवश्य परमगति प्राप्त होती है इस विषय में कोई संशय शेष नहीं रहेगा । **दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।** (16.5) इस भगवद्वाक्य में श्रद्धा रखकर दैवीसम्पत् धर्मो का अनुसरण करते रहना चाहिए । हम किसी भी युग में हों अवश्य मोक्ष होगा ही, ऐसा परमेश्वर के वाक्य में विश्वास करना चाहिए ।

एक मुख्य विषय को मन में बैठाना चाहिए । दैवीसम्पत् में उक्त लक्षणों में से एक–एक को मन:पूर्वक जीवन में धारण करने के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए

। इनमें सबसे अधिक ''आर्जव'' रूप साधन अति महत्व रखता है । **योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा ।।** (म.भा.) अपनी वास्तविक स्थिति को ढंककर अन्य प्रकार से दिखलाने से बढ़कर अधिक पाप नहीं है क्योंकि यह तो आत्मापहरण रूप चौर्य है इस सूक्ति को सर्वदा हमें स्मृति में रखना चाहिए । बाहर मैं दैवीप्रकृति वाला हूँ ऐसा नाटक करना अंदर से स्वार्थपरायण होकर जीना इससे बढ़कर कोई पाप नहीं है । साधन में आसक्ति के अनुरूप ऋजुभाव (सरलता) से बर्ताव करने का सौभाग्य भगवान् आपको अनुग्रह करे, ऐसी मेरी प्रार्थना है ।

***

65–महावाक्य जप (जुलाई 1974)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच गया । अभिप्राय ज्ञात हुआ । क्या महावाक्य जप के बिना ही ज्ञान हो सकता है ? इन वाक्यों के जप से अविद्यानाश कैसे संभव है । संन्यासी को भी प्रणवमंत्र और महावाक्य का जप अनिवार्य रूप से करते रहना चाहिए क्या ? इस विषय में आपका निश्चित् अभिप्राय बतलाइये, ऐसा आपने लिखा है।

प्रणवविचार छान्दोग्योपनिषद् में (छा.2.23.1) है । इसके आधार से ही ब्रह्मसूत्र भाष्य में भाष्यकार शंकरजी **''पारिव्राज्य शास्त्रविहित''** है, ऐसे अभिप्राय को व्यक्त किये हैं । मूल उपनिषद् में ओंकार को ब्रह्म का प्रतीक मानकर कैसे उपासना करना चाहिए, इस अभिप्राय को व्यक्त किया है । ब्रह्मसूत्र भाष्य में 'ब्रह्मसंस्थ' शमदमादि का अनुसरण करते हुए ब्रह्म में ही तात्पर्य रखता है, इसलिए श्रुति में पारिव्राज्य को कण्ठोक्त रूप में विधान किया है– इस बात की पुष्टि भाष्यकार ने की है । वहां सर्वकर्मपरित्यागरूप पारिव्राज्य का ही कथन

है । इन तीनों स्थानों पर (उपनिषत्, ब्रह्मसूत्र, ब्रह्मसूत्रभाष्य पर) कहीं भी प्रणवमंत्र जपविधि का साक्षात् विधान नहीं है । छान्दोग्य में वाक्यशेष में प्रतीकरूप में प्रणवोपासना है ।

प्रणवोपासनाविचार **बृहदारण्यक्, कठ, मुण्डक, प्रश्न, माण्डूक्य उपनिषदों में भी उक्त है ।** इन सबमें प्रणवजप करना अनिवार्य है, ऐसा स्पष्ट कथन नहीं है।

भगवद्गीता के आठवें अध्याय में भी प्रणवोपासनाविचार हैं । वहाँ भाष्यकार शंकरजी लिखते हैं कि ओंकार को ब्रह्मा का वाचक या प्रतीक मानकर जो मन्दमध्यमाधिकारी लोग उपासना करते हैं, वे कालान्तर में परब्रह्म प्राप्ति करते हैं, ऐसा स्पष्ट किया है ।

अब महावाक्य के बारे में विचार करें । महावाक्य मंत्र है, उसका जप करना चाहिए, ऐसा किसी भी श्रुति में विधान नहीं किया गया है । समस्त उपनिषद् किसी एक कर्म विधानार्थ हैं अथवा उपासनाविधानार्थ हैं– इस पूर्वपक्ष को और ब्रह्म को उपासनाविधि के शेषरूप में कथन किया गया है इस पूर्वपक्ष को भी खण्डन करके, **''तत्त्वमसि''** इत्यादि वाक्य स्वतंत्ररूप से ही ब्रह्मस्वरूप को तात्पर्य से समझाते हैं, ऐसा आचार्य शंकरजी सिद्धान्त की स्थापना किये हैं । **''तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि''** इत्यादि वाक्यार्थ ज्ञान होने तक सभी विधि प्रमाण का अस्तित्व है, ज्ञानानन्तर और कोई अनुष्ठेय कार्य नहीं बचता है, ऐसा आचार्य जी बार–बार जोर लगाकर कहे हैं ।

इसलिए एक–एक वेद के लिए एक–एक महावाक्य नियत है और इस महावाक्य का परिव्राजक को नित्य जप करना चाहिए, ऐसा आज के कुछ वेदान्ती समझते हैं, उस समझ के लिए कोई प्रमाण नहीं है । इतना ही नहीं इन वाक्यों के अर्थज्ञानानन्तर उसको जप के लिए उपयोग करे, ऐसा कहना श्रुति,

स्मृति, युक्तिविरूद्ध है । **आचार्य शंकरजी अद्वैतसिद्धान्तस्थापनार्थ ही प्रस्थानत्रयभाष्य लिखे हैं ।** अत: इन भाष्यों का अनादर करने का दोष भी उन लोगों को अवश्य लगेगा, ऐसा मेरा निश्चित अभिप्राय है ।

***

66–नित्यसिद्ध मोक्ष (अगस्त 1974)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच गया है । अनेक लोग कहते हैं कि मुक्ति तो शरीरपातानन्तर होने वाला परमपुरुषार्थ है । बहुत कम लोग कहते हैं कि इस जन्म में ही मुक्ति तो प्राप्त हो जाती है, परन्तु जब तक शरीर है तब तक अविद्यालेश भी है । इसलिए विदेहमुक्ति ही मुख्य है और कुछ लोगों का कहना है कि सद्योमुक्ति माने ज्ञान होते ही मुक्ति हो जाती है और तत्क्षण शरीर भी गिर जाता है, ऐसा वाद करते हैं इसमें सच्ची मुक्ति कौनसी है ? और उसके लिए शास्त्राधार भी है क्या ? ऐसा आपने पूछा है ।

ब्रह्मप्राप्ति का नाम मोक्ष है । जब मन में स्थित समस्त कामना छूट जाती है उसी क्षण मनुष्य अमृत होता है । यहीं ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है । (का. 2.3.14) इस श्रुति में बंधन का कारण कामना को कहा है । इसलिए निःशेष रूप में कामना नष्ट होने पर तत्क्षण ब्रह्म प्राप्ति होती है, ऐसा सुस्पष्ट कथन किया गया है । इसलिए जीवनमुक्तिवाद शास्त्राधारित है ।

किन्तु ब्रह्मप्राप्ति का क्या अर्थ है ? नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला ब्रह्म मैं ही हूँ– इस प्रकार का ज्ञान । **''मैं मुक्त हूं''** इस प्रकार के ज्ञानानन्तर और क्या शेष रह सकता है ? (अविद्यालेश ज्ञानी में है) यह हास्यास्पद वचन है । **''प्रारब्धक्षय के पश्चात् विदेहमुक्ति होती है''**– यह वचन देह वास्तव में है, इस व्यवहार दृष्टि को स्वीकार करके कहा गया है । परन्तु अशरीरत्व ही– किसी

भी शरीर–इन्द्रिय–मन–बुद्धि का मुझसे संयोग वास्तव में है ही नहीं यही मुक्ति है, ऐसा श्रुति वचन है । इसलिए परमार्थ दृष्टि से मुक्ति अब भी है, इसलिए मुक्ति साध्य फल नहीं है ।

इसी अभिप्राय से गौडपादाचार्यजी कहते हैं कि **''प्रलय नहीं, सृष्टि नहीं, बद्ध नहीं, साधक नहीं, मुमुक्षु नहीं, मुक्त भी नहीं यही परमार्थ है''** इस कारिकोक्ति को मनन करते रहिएगा ।

***

67–क्या पारिव्राज्य (शास्त्र) विहित है ?
(सितम्बर 1974)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपके प्रश्न का उत्तर देने में थोड़ी देर हुई । पारिव्राज्य विहित है क्या ? ब्रह्मसूत्र भाष्य (3.4.20) में इस प्रकार का विचार **''ब्रह्मसंस्थो अमृतत्त्वमेति''** इस छान्दोग्य वाक्य के आधार से किया गया है । इस वाक्य में ''विधि'' शब्द न होने पर भी अपूर्व ब्रह्मसंस्थत्त्व को कहने के कारण यहाँ विधि की कल्पना करनी चाहिए, ऐसा वहाँ निर्णय किया गया है ।

इस सूत्र के भाष्य में शंकर भगवत्पादजी **अनपेक्ष्यैव जाबालश्रुतिम् आश्रमान्तरविधायिनीम् अयमाचार्येण विचार:प्रवर्तित:''** पारिव्राज्याश्रम को विधान करने वाली जाबालश्रुति को गणना में न लेकर बादरायणाचार्यजी यहाँ यह विचार किये हैं, ऐसा लिखते हैं । तदनन्तर **ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वावनाद्वा** (जा. 4.5) इन दो वाक्यों को जाबालोपनिषद् से उदाहरण करके देते हैं । उन वाक्यों में ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थाश्रम, पारिव्राज्य ये चारों आश्रमों को क्रमपूर्वक करें

अथवा वैराग्य होने पर जब विरक्त हो गया हो उसी दिन ब्रह्मचर्य से गार्हस्थ से अथवा वानप्रस्थाश्रम से सीधा पारिव्राज्य करें, ऐसा उक्त है ।

कुछ पूर्वमीमांसक लोग ''पारिव्राज्य तो जिसको कर्म में अनधिकार है, उसके लिए विहित है ऐसा कहते थे परन्तु उन लोगों के बारे में इसी जाबाल श्रुति का दूसरा वाक्य कहा गया है इसलिए यह वैराग्य का ही विषय है ऐसा आचार्य इसी भाष्य में स्पष्ट किये हैं ।

यहाँ जाबालश्रुति के विषय में एक और वचन को लिखना आवश्यक है, वह क्या है कि अब प्रकाशित इस श्रुति में अनुपलब्ध एक वाक्य को आचार्यजी अपने भाष्य में (सू.भा.4.1.3) उद्धृत किये हैं । उपनिषद्–उक्त परमात्मा को मैं रूप से जानना चाहिए अथवा मेरे से भिन्न समझना चाहिए क्या– इस विचार को चर्चा के लिए स्वीकार करते हैं– वह वाक्य इस प्रकार है **''परमेश्वरप्रक्रियायां जाबाला: आत्मत्वेनैतम् उपगच्छन्ति त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि भगवो देवते इति''** (वे.सू. 4.1.3) यह वाक्य जाबालब्राह्मण में किसी अन्य जगह विद्यमान हो सकता है ।

चाहे कैसा भी हो, साधनचतुष्टयसम्पन्न व्यक्ति ही जिज्ञासा करने में योग्य अधिकारी है । इस प्रकार जिज्ञासाधिकरण के अथ शब्द विचार में आचार्य शंकरजी स्पष्ट किये हैं। अत:' कर्मफल से विरक्त को ही ब्रह्मज्ञान लभ्य है न कि कर्त्तव्यबुद्धि से कर्म करने वाले को– ऐसा घण्टाघोष रूप में कहे हैं । इन सब बातों से यही स्पष्ट होता है कि पारिव्राज्य केवल विहित ही नहीं जो कर्तृत्वबुद्धि वाले हैं उनको ब्रह्मज्ञान की गन्ध भी मन में उदय नहीं होगी, ऐसा आप ही आप स्पष्ट होता है ।

एक और संन्यास है उसमें यज्ञोपवीत, त्रिदण्ड, कमण्डलु आदि धारण करने का विधान है परन्तु वह श्रुतिविहित संन्यास नहीं है । स्मृतियों में मात्र विधान

किया गया उपासनाप्रधान संन्यास है ।

इसी कारण से छान्दोग्यभाष्य में **''अतश्च इदमेवैकं वेदोक्तंपारिव्राज्यं न यज्ञोपवीतत्रिदण्डकमण्डल्वादिपरिग्रह:'' (छा.भा.2.22.1)** यही एक वेदोक्त पारिव्राज्य है, ऐसे संन्यास वेश से युक्त स्मार्ताश्रम की निन्दा किये हैं''।

उपासना भी मानसिक कर्म है । अन्य स्मार्त संन्यासी को लोकान्तर में फल प्राप्त होता है । उसमें भी विरक्त होकर अनुभवपर्यन्त ज्ञान से नित्यमुक्तस्वभाव ब्रह्म को ही जानकर कृतकृत्य होना रूप अत्याश्रम ही पूर्ण वैराग्य से समन्वित है– इस बात को अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है न ?

***

68–भक्ति और अनुभव (नवम्बर 1974)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

उपनिषदों का विचार किस प्रकार करना चाहिए । भगवद्गीता–अध्यनार्थ क्या–क्या अधिकारी सम्पत् चाहिए । इस विषय में भिन्नाभिप्राय अनेक हैं । इन ग्रंथों के पठन से निश्चित फल प्राप्ति के लिए हमारे में क्या–क्या योग्यता होना आवश्यक है ? कृपा करके समझाइये । ऐसा आपने लिखा है । आज के समय में बहु आवश्यक रूप से निर्णय करने योग्य यह प्रश्न है ।

गीताशास्त्र के बारे में भगवान् स्वयं ही अपना अभिप्राय व्यक्त किये हैं ।

''इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन् ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति'' ।। (गीता 18.67)

इस गीताशास्त्र को जिसमें इन्द्रियमनएकाग्रतारूप तप नहीं है, उसको नहीं कहना चाहिए । जिसमें गुरु देवता के प्रति भक्ति नहीं है उसको भी नहीं कहना चाहिए । जो शुश्रूषु नहीं है उसको भी नहीं कहना चाहिए । जिसको मेरे विषय में असूया है उसको भी नहीं कहना चाहिए । यह श्लोकार्थ है। जो विषयवासनाओं

को जीत लिया है, शास्त्राचार्योपदेश को श्रवण करते हुए गुरु और देवता में भक्ति रखता है उसी को मात्र गीताशास्त्र उपलब्ध होता है । अभक्त को सुनाना व्यर्थ है।

उपनिषद् वेदभाग है । इसलिए उपनिषद् ज्ञान के लिए वेदार्थनिर्णय योग्यता चाहिए, ऐसा स्पष्ट होता है । मीमांसा शास्त्र में उक्त तात्पर्यलिंगादि का अनुसरण करते हुए शास्त्रविचार करने मे शक्त वेदाधिकारी उपनिषद् विचारों को साक्षात् कर सकता है परन्तु जब उसके अर्थ को अनुवाद द्वारा पढ़ते हैं तब केवल श्रुतिप्रामाण्य को विश्वास करना पर्याप्त नहीं है । अनुभव प्रमाण पत्र के साथ रगड़कर तत्तद् उपदेशों के निर्णय करने की योग्यता चाहिए । एक उपनिषद् में इस प्रकार कथित है– जो दुराचरण को नहीं छोड़ता है, जिसने शमदमादि को जीवन में लाकर चित्त समाधान नहीं किया, उसे विज्ञान से इस आत्मा को समझना अशक्य है । इससे यही निश्चय होता है कि जो अन्तर्मुख है, ईश्वर में भक्ति रखता है, केवल बाह्यप्रमाण तर्कों की शरण में नहीं जाता है, एक अनुभव प्रमाण से तत्त्वज्ञान के लिए प्रयास करता है वह वेदान्त–विचार के लिए अधिकारी है ।

वेदान्त को शुष्कतर्क से निर्णय करना होता नहीं वह अनुभवशास्त्र है, आत्मा अनुभवस्वरूप है । वही हम सबका परमार्थ स्वरूप है इसलिए आत्मानुभव से आत्मा में स्थिर होना चाहिए ।

***

69–व्यवहार–परमार्थ–अनुभव (दिसम्बर 1974)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

''परमार्थ व्यवहार ये दो शब्द श्री शंकर भगवत्पादजी के भाष्य में इधर–उधर दृश्यमान होते हैं। व्यवहार ही परमार्थ है न ? इससे अतिरिक्त परमार्थ सत्य है क्या ? है तो कैसे जानें ? इस प्रकार अन्य प्रस्थान वाले प्रश्न पूछते हैं । इसके

लिए क्या उत्तर है। बहुश: उत्तर नहीं है ऐसा मेरा अनुमान है । आपने लिखा है– आत्मा अनुभवस्वरूप है फिर भी मेरा संशय परिहार नहीं हुआ है'' । ऐसा आपने लिखा है । अनुभव के बारे में संक्षेप से यहाँ लिखता हूँ ।

अनुभव शब्द के अनेकार्थ हैं । इन्द्रियों से साक्षात् होने वाला विशेषज्ञानरूप अनुभव, मन के द्वारा साक्षात् हो रहा सुख–दु:खादि का अनुभव– इन दोनों से अतिरिक्त **अन्त:करण को ही साक्षात् समझना रूप अनुभव भी है ।** मैंने इसी को यहाँ आत्मस्वरूप का अनुभव कहा है ।

जाग्रत् में प्रमाण–प्रमेय से अलावा प्रमेय को जानने वाला ''मैं रूप प्रमातृ भी है। यह विषय हम सबको साक्षात् समझ में आता है । इसी प्रकार स्वप्न में भी प्रमातृ–प्रमाण–प्रमेय रूप तीन विभागयुक्त प्रपंच दृश्यमान सा होता है । इसी प्रकार जाग्रत्–स्वप्न दोनों अवस्थाओं में स्थित प्रमाण आदि को साक्षात् जो जानता है उस स्वरूप को ''साक्षी'' नाम से उपनिषदों में कहा गया है । ऐसा भी कहते हैं कि साक्षी जाग्रत् स्वप्न को साक्षात् अनुभव करता है । परन्तु यहां कोई ''जानना'' रूप क्रिया नहीं है, ''अग्नि जलाती है'' इस उक्ति के अनुरूप दोनों प्रकार से साक्षीरूप अनुभव को ही भिन्न–भिन्न शब्दों से बतलाया गया है ।

यह अनुभवस्वरूप आत्मा ही दोनों अवस्थाओं को देखने वाला दृष्टा है । इस आत्मा को अवस्थाओं में दृश्यमान क्रियाकारकफलों का परिच्छेद नहीं है । इसलिए वही दोनों अवस्थाओं में व्याप्त है, इस अर्थ में उसको आत्मा कहते हैं ।

इसी प्रकार जाग्रत् को साक्षी देखता रहता है, यह वाक्य और मैं दीवाल को देखता हूँ इस वाक्य में भी अंतर है । द्वितीय वाक्य में ज्ञान त्रिपुटी (प्रमातृ–प्रमाण–प्रमेय) से विभक्त हुआ है । आत्मा जाग्रत् में प्रमातृ–प्रमाण–प्रमेय रूप में प्रतिभासता है । इसका अर्थ जैसे स्वप्न में आत्मा मिथ्याप्रतीति रूप प्रमातृ–प्रमाण–प्रमेय रूप से प्रतिभासता है वैसा ही जाग्रत् में भी प्रतिभासता है ऐसा अर्थ है । सूर्य या चन्द्र जलाशय में अनेक सूर्यचन्द्र रूप में दृश्यमान होते हैं– इस

वाक्य के अनुरूप इस वाक्य का भी अर्थ करना चाहिए ।

जाग्रत्–स्वप्न दो अवस्था है । यह केवल व्यवहार मात्र है । लोक में जनता की भावना के अनुरूप उक्त वचन है । इन दोनों अवस्थाओं में प्रमातृ–प्रमाण–प्रमेय विभाग त्रिपुटी गोचरित होती है । यह भी केवल व्यवहार मात्र है । फिर परमार्थ क्या है– साक्षी अथवा आत्मा ही वास्तव में अद्वितीय है । दो आत्मा हैं ही नहीं । आत्मा को ही अर्थात् अनुभवस्वरूप तत्त्व को ही लोग प्रमातृ–प्रमाण–प्रमेय रूप में विभक्त करके ये तीन पृथक्–पृथक् समझ बैठे हैं ।

इसी प्रकार सुषुप्ति माने कुछ नहीं जानने की अवस्था है ऐसा लोग समझते हैं यह भी केवल व्यवहार मात्र है । वहाँ भी इस त्रिपुटी के विभाग रहित केवलात्मा ही विद्यमान है और कुछ जानना चाहिए तो लिखिए और भी विस्तार से लिखूंग ।

***

70–अहंकार–ममकार का त्याग ही उत्तम साधन है (फरवरी 1975)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच गया । अब संसार को त्याग करके गांव से गांव भ्रमण करते हुए यहाँ आ पहुँचा हूँ । नदी तटपर कुटिया बनाक़र एकान्त में भगवत्चिन्तन करते हुए कालयापन करने की इच्छा है। अब मुझे मन में सम्भावित विक्षेपों के परिहार के लिए क्या मुख्य साधना करनी चाहिए ? ऐसा आपने पूछा है ।

संन्यासी लोगों को यह प्रश्न पूछने योग्य है । गांव से दूर पहुँचने पर भी ''मैं अब गांव से दूर हूँ'' यह चिंतन दूर नहीं हुआ है– ऐसा स्पष्ट है । नदी तट पर एकान्त में हूँ, इस विचार के अन्तर्गत ''मेरा परिवार समीप नहीं है'' यह विचार भी शामिल है न ? अब भिक्षा के लिए क्या व्यवस्था है ? यह चिन्ता मन में आती है क्या ? देख लीजिए । ये सब 'मेरा' (मम)– इस बुद्धिवृत्ति का अनेक

प्रभेद मात्र है।

और एक प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक है ''आपताकाल में सहायता मिलेगी'' इस विचार से आप अपनी बेची गई जमीन के धन को बैंक में थोड़ा कुछ रखे हैं क्या ? कुटिया के आसपास आप्तलोग कहलाने वाले आपके भक्त आदि रहते हैं क्या ? यदि हाँ– फिर 'मैं–मेरा' (अहं–मम) भावना अब तक दूर नहीं हुई समझे ।

शरीर इन्द्रियों में 'मैं' रूप दृढ़भावना आपके मन में है क्या ? अथवा यदा कदा यह भावना ऊपर उठती है क्या ? इस बात की विमर्शा अच्छी तरह करनी चाहिए। क्योंकि इससे बढ़कर कोई दूसरा संसार नहीं है ।

मैं–मेरा रूप बुद्धिवृत्ति कैसे भी हो अन्त:करण में घुसकर घर बसा लिये हैं । ''मैपन'' को भी अपने चैतन्यप्रकाश से प्रकाशित करते हुए निर्विकार–निर्विशेष रूप चैतन्य मन की भावनाओं का भी आत्मा है। जाग्रत में हो या निद्रा में हो इस केवल ज्ञान स्वरूप को दूर करना किसी के लिए भी संभव नहीं है । आप आह्निक करते समय, सद्विचार चिंतन के समय, किसी के साथ आत्मविचार की चर्चा के समय लक्ष्यपूर्वक अवलोकन करें । यही परमार्थ है । इसी में स्थिर होना ही यति लोगों का लक्ष्य होना चाहिए ।

***

71–स्त्रियों के लिए अध्यात्म साधन (मार्च 1975)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

''पतिगृह (ससुराल) में स्त्रियों के लिये स्वातंत्र्य नहीं है । इस कारण से स्त्रियों को अध्यात्म साधना कैसे करनी चाहिए ? उनके लिए सद्गुरु कैसे प्राप्त हो ? पति की इच्छा के विरुद्ध साधना करना उचित है क्या ? संकट में फंसी हुई लड़की को साधु–संतों का दर्शन, तीर्थयात्रा, मंदिरों में सेवा आदि प्राप्त होवे

इसके लिए क्या करना चाहिए'' । ऐसा प्रश्न आपने किया है । मेरी जानकारी के अनुरूप आपके प्रश्न के लिए संक्षेप से उत्तर लिखता हूँ ।

पतिगृह में अध्यात्म साधना के लिए समय नहीं मिलता है । इसका कारण एक तो घर के कामकाज से छुट्टी न मिलना हो सकता है । अथवा पति या परिवार के बड़े लोग अध्यात्म साधनों में रुचि न रखने के वास्ते बाधा पहुँचाना भी कारण हो सकता है । इनमें पहले कारण को बहुत हद तक महिलाओं को स्वयं हल करना चाहिए । मन में अध्यात्म साधना की अधिक भूख है तो कैसा भी करके उसके लिए समय निकालना संभव है, ऐसा मुझे लगता है ।

पतिशुश्रूषा, बच्चों एवं वृद्धों का पालन–पोषण आदि माताओं के लिए अनिवार्य सेवा है । वह अधिक होने पर भी अध्यात्म साधना के लिए कोई समस्या नहीं है प्रात:काल उठने पर तुरन्त स्नान करके शुद्धवस्त्र धारण करने में कुछ बाधा हो सकती है । किंतु सबसे पहले जागकर भगवान् का ध्यान करके घर में झाड़–बुहार कर, लीप कर रंगोली लगाते समय में भी परमेश्वर का नामस्मरण करने में किस प्रकार की रुकावट है ? परिवार एवं बच्चों के लिए शुद्ध तरीके से रसोई तैयार करके मन में ही परमेश्वर को निवेदन करके सबको वितरण करने में कोई बाधा है क्या ? यदि घर में देवपूजा करने की परंपरा है तो उसके लिए आवश्यक सामग्री को प्रेम से उपलब्ध कराना भी साधना ही है न ? अथवा आपके परिवार में कोई दूसरा पूजा आदि करने की परिपाटी न रखे हो तब आपके स्वयं भोजन करने के पहले भगवान् के सामने एक दीपक जलाकर सिद्ध किये हुए अन्न को ही भक्तिपूर्वक समर्पण करने में क्या कोई आतंक हो सकता है ? शाम के समय आप और बच्चे मिलकर थोड़ी देर मन्द स्वर में भजन क्यों नहीं गा सकते हैं ? रात को सोने के पूर्व पांच मिनट बैठकर मन ही मन प्रतिदिन के कार्यकलापों का हिसाब भगवान् को देकर अपराधों के लिए क्षमा और भविष्य के कार्य के लिए सहायता की याचना करके सोने में क्या दिक्कत है । पति को

परमेश्वर मानकर उनके लिए की जाने वाली सभी सेवा भगवदाराधना ही है । इस प्रकार भावना करने से घर का सभी कामकाज अध्यात्म साधना ही बन जाता है । आप भागवत में गोपस्त्रियों का चरित्र श्रवण किये होंगे । वे सभी धनाढ्य महिलाएं नहीं थीं परंतु वे गोदोहन काल में, अनाज पीसते समय, दही मथते हुए, लिपाई करते हुए, आने-जाने वक्त में, बच्चों के लालन-पालन में, पानी भरते, बर्तन मांजते हुए सर्वदा गद्‌गद् कण्ठ से आनन्द के आंसू बहाती हुई भक्तिपूर्वक श्रीकृष्ण भगवान् की ही स्तुति करती थीं । इस प्रकार शुकदेवजी ने वर्णन किया है । इस वचन को स्मृतिपटल में रखने से मेरी बातों में आपको अधिक विश्वास उत्पन्न होगा ।

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ खेङखनार्भरु दितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ।।

(भागवत 10-44-14)

परन्तु यह सब घर में किसी भी प्रकार की समस्या से रहित स्त्रियों के विषय में ठीक है । परन्तु जिस घर में अध्यात्मसाधना में रुचि ही नहीं अथवा ''अध्यात्मचिंतन'' नाम सुनते ही लालपीले हो जाते हैं- इस प्रकार के घर में रह रही महिलाओं को क्या करना पड़ेगा ? इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप से लिखता हूँ ।

यदि अध्यात्मसाधना की वास्तव में अभिलाषा है तो वैसे प्रसंगों में भी रास्ता निकल जावेगा । घरवालों की इच्छा के विरुद्ध बाह्यपूजा या भजन हो, दान करना आदि हो, सभी के मन में खेद या रोष अवश्य उत्पन्न करेगा- इस बात में कोई संशय नहीं है । किन्तु अध्यात्मसाधना मुख्यरूप में मन से सम्बन्धित है इसलिए कोई चिन्ता करने की बात ही नहीं । मन ही मन प्रेम से भगवान् की प्रार्थना करते रहना चाहिए । इससे संचित पाप से उत्पन्न जितनी भी समस्याएं हैं, सब गायब हो जायेंगी । अपने स्वजनों की ओर से भी साधना के लिए

रुकावट धीरे–धीरे कम हो जायेगी । घर–परिवारवालों के मन में परिवर्तन होने लगेगा, सब कुछ सुगम हो जायेगा ।

साधु–संतों के दर्शन, तीर्थयात्रा, देवालयों में आराधना इन सबके लिए अवसर ही नहीं है– इस प्रकार आप कभी भी व्यथा न करें । पापवासना से युक्तजनों को तीर्थादि करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है । परन्तु यदि हृदय में सदा भक्ति का उफान आ रहा हो तो साधु–महात्मा जहाँ आप हैं वहीं आकर अवश्य दर्शन देंगे । आप जहाँ प्रतिदिन स्नान करते हैं, वह कुँआ आदि आपके लिए पवित्र तीर्थ ही बन जायेंगे । आपका निवास स्थान ही आपके लिए भव्य मंदिर हो जायेगा ।

मुख्य रूप से आप जहाँ जिस कार्य को बिना समस्या के कर सकती हैं, उसको परमेश्वर की आराधना के रूप में परिवर्तन करें । आप जो प्रिययुक्त, हितसहित अनुद्वेगकर वाणी बोलती हैं वह भगवान् का नामजप हो जावे, भगवान् की स्तुति हो जावे। आपके मन में जो कुछ भावना उठती है वह सब शुभभावना होकर भगवान् का स्मरण–ध्यान हो जावे, आप जो कुछ कामकाज करती हैं वह सब उसकी सेवा मानकर करिए । आपका चलना फिरना भगवान् की प्रदक्षिणा हो जावे । यह लक्ष्य जिन महिलाओं के सामने है वे कहीं भी रहें भगवद्भक्त हो जाती हैं, ज्ञानी हो जाती हैं, सबके लिए पूजनीय हो जाती हैं ।

***

72–मौन कैसे करें (अप्रैल 1969)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

पत्र द्वारा आपने जो प्रश्न पूछा है उसका यहाँ संक्षेप में उत्तर लिखा हूँ । कुछ लोग आजकल मुझे तुच्छरूप में देख रहे हैं । किसी–किसी के मुझे एकवचन से रे, तू करके बुलाने पर बहुत दुःख होता है । कोपताप से बचने के लिए मैं उत्तर

भारत में प्रसिद्ध एक तपोभूमि में जाकर वहाँ एकान्त साधना करने के लिए सोच रहा हूँ अथवा दो-चार महीने मौन साधना करके शांति का अभ्यास करना चाहता हूँ। मौन को निर्विघ्न रूप में अनुष्ठान करने के लिए क्या साधना करनी चाहिए कृपया लिखिए ऐसा प्रश्न आपने पूछा है ।

जिनको बोलने की आदत अधिक है वे ही गप-शप में फँसकर परेशान हो जाते हैं । ऐसे लोग स्वयं की बढ़ाई करने का अवकाश देखते रहते हैं । वे झूठ बोलने में भी पीछे नहीं हटते हैं, उनको कटुवचन कहकर दूसरों को दुःख पहुँचाना गलत नहीं लगता है । असावधानी से कुछ बता दिया तो भी उसको उचित साधने का प्रयास करने लगते हैं । व्यर्थ गपशप से मन मलिन हो जाता है फिर भी वे अनाप-शनाप गप मारने के व्यसनी बन जाते हैं, इसलिए आपका मौनी बनने के लिए सोचना वास्तव में शुभ सूचना है ।

परन्तु बड़े लोगों का मौन-साधना का लक्ष्य केवल इतना मात्र नहीं है । बोलना बंद करके मौन हो जाने से बाहर से कोई दुष्परिणाम नहीं आ सकता है किन्तु चुपचाप बैठने वाले का मन चंचल होकर इधर-उधर भागने का डर बना रहता है । मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि दोष समुद्र की लहर के समान ऊपर उठते रहने पर केवल बाह्य मौन कौनसी सफलता दे सकता है । मूक जन्तु कभी-कभार आवाज करते हैं या कोई बातचीत नहीं करते हैं, इतने मात्र से हम उनको मौनी कह सकते हैं क्या ? लोग जंगल में रहने मात्र से मुनि नहीं बन सकते हैं । एक कवि ने ऐसा कहा है कि मुनि लोगों के नासिकाग्र में क्रोध रहता है, इसलिए मेरा विश्वास है कि बाह्य मौन से अच्छा (मितभाषी होकर) मनोमौन सम्पादन करना श्रेयस्कर है ।

उपनिषद् में मौन शब्द को बहुत महत्व दिया है, सर्वकर्म संन्यास कर चुके महानीय के द्वारा तत्त्व को सम्पूर्ण रूप में जानना पाण्डित्य कहलाता है । इस प्रकार समझने के उपरान्त अपनी विद्वत्ता आदि का प्रदर्शन न करते हुए मुग्ध

बालक के अनुरूप अमानित्वादि से जीवन बिताना बाल्य कहलाता है । ये दोनों स्थिर होने पर मन को तत्त्वानुसंधान में ही लगा सकते हैं । यह अनुसंधान ही मौन है (बृ.3.5.1)। इसी अभिप्राय को श्लोक रूप में महाभारत में संग्रह किया गया है –

मौनान्न स मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनि: ।
स्वलक्षणं तु यो वेद स मुनिश्रेष्ठ उच्यते ।।

अब तक मैं जो कहा हूँ वह मौन शब्द का मुख्यार्थ है । सामान्य साधकों के लिए परमेश्वर का नाम संकीर्तन अथवा जप ही मौन कहलाता है । यद्यपि परमात्मा का नाम भी शब्द ही है तथापि लौकिक सम्भाषण से अथवा लोकवार्ता सुनने से या पढ़ने से जो वाग्दोष हो जाते हैं, वे सब नाम संकीर्तन या नामजप से अदृश्य हो जाते हैं । अत: अध्यात्म मार्ग में पहला कदम मौन हो जाना चाहिए ।

***

73–गोरक्षा (अगस्त 1966)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच गया । आज के दिनों में गोरक्षा कार्य कष्टकर हो गया है। बढ़िया दूध मिलना ही कठिन है । परिवार के लिए ही पर्याप्त सुविधावाला मकान मिलना कष्टकर हो जाने से गाय रखने (पालने) के लिए तो जगह ही कहां है? उसके लिए चारा कहां से लावें ? हम पुराण श्रवणकाल में **''स्वस्ति प्रजाभ्य: परिपालयन्ताम् न्यायेन मार्गेण महीं महीश:। गोब्राह्मणेभ्य: शुभमस्तु नित्यम्''** इत्यादि जो सुनते हैं क्या ये सब वाक्य पुराणकाल के लिए ही ठीक बैठते हैं ? क्या गौरक्षा के बारे में आपकी कुछ राय दे सकते हैं ? इस प्रकार आपने पूछा है ।

यद्यपि यह प्रश्न समस्त देशों के लिए उलझन का विषय बना हुआ है,

तथापि हमारे देश के विषय में गोरक्षण एक बहुत बड़ा प्रश्न है ऐसा कहना पड़ेगा

गौ शब्द के संस्कृत में अनेक अर्थ हैं । उनमें गाय या बैल, स्वर्ग, इन्द्रिय, वाक् ये चार अर्थ बहुमुख्य हैं । गोरक्षा के विषय में चारों अर्थ भारतदेशवासियों के लिए अवश्य कर्त्तव्य है । गाय, बैल, बछड़ा ये सब हमारे देश के लिए अत्यन्त आवश्यक धनसम्पत्ति हैं । गौ शब्द का एक अर्थ भूमि भी है, पुराणों में भूदेवी ने गौरूप धारण करके श्रीमन्नारायण के समीप जाकर 'भूभार हरणार्थ आपका अवतार लेना अब बहुत आवश्यक हो गया है' इस प्रकार रोते हुए प्रार्थना की, ऐसी यत्र तत्र कहानी आती है । कहते हैं कि जब भी धरती पर पाप की वृद्धि होती है तब भूदेवी इस प्रकार दु:खी होकर याचना करती है । गायों को कसाई लोगों के हाथों में बेचना आज का महापातक है । कृषि कार्यार्थ गाय की आवश्यकता कितनी है इस विषय को शब्दों में कहना असाध्य है । गाय का गोबर पृथ्वी के लिए वरप्रसाद है । जिन देशों में रासायनिक खाद का प्रचलन है वहाँ तत्काल फसल की वृद्धि होने पर भी आगे चलकर जमीन का सार अतिशीघ्र समाप्त होकर कई प्रतिशत जमीन बंजर हो चुकी है, ऐसा सुना जाता है । गाय के गोबर से लेपे गये जमीन, दीवार आदि स्थानों पर संक्रामक रोग आना टलते हुए देखा जाता है । इस बात को सब लोग जानते हैं कि मनुष्य के आरोग्य के लिए गो–क्षीर अत्यन्त पौष्टिक आहार है । इन सब दृष्टि से हमारे कुटुम्ब रक्षणार्थ गोपालन करना अत्यावश्यक है ।

गोरक्षा के सहायक रूप में प्रत्येक गांव में, प्रत्येक शहर में भी गोचर भूमि की व्यवस्था होनी चाहिए । इसके लिए सब लोग कर्त्तव्यदृष्टि से पूर्ण होकर इस विषय में म्युनिसिपालिटी के उपर दबाव डालना अति आवश्यक है । परिवार पालने के लिए घर ही पर्याप्त नहीं है, यह उलाहना उचित ही है । परन्तु यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि योग्य परिवार के अन्तर्गत गाय–बछड़े भी आ जाते हैं । खेत– मकान आदि सम्पत्ति रखने वाले कोई भी हों गौ के लिए जगह नहीं रखे

तो कैसे उचित माना जाये ?

अब गोरक्षा माने स्वर्ग की रक्षा– इस द्वितीय अर्थ के बारे में विचार करें । स्वर्ग की रक्षा मतलब धर्म की रक्षा है और अधर्म ही नरकगमन का हेतु । इस धर्म अर्थ में गोरक्षण करके सुख–सम्पादनार्थ प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य प्रयत्न करना चाहिए । धर्म से पतन हुआ, जनजाति कालानुक्रम में नाश हो गया है– ऐसा इतिहास बताता है । अत्याशा, भोगलालसा इससे अधर्म बढ़ता है । 'पुनर्दरिद्रः पुनरेव पापी' इस उक्ति के अनुसार धर्म और गरीबी का सम्बन्ध है । आज के दिन हमारे देश में स्थित गौ ब्राह्मण माने सात्त्विक प्राणी और सात्त्विक जनता के अनादर से ही गरीबी बढ़ रही है । ऋण लेकर उद्योग को बढ़ायेंगे, अनुपयुक्त गायों को मारकर चमड़े के धंधे को लाभदायक करेंगे । ऐसा कहते हुए पापपूर्ण जीवन बिता रहे हैं और पुनः अधिक दरिद्रता की तैयारी कर रहे हैं ।

इन्द्रिय अर्थ में गौ शब्द स्वीकार करें तो भी यही बात है । हम इन्द्रियसंयमपूर्वक धर्मसम्पादन करके इस लोक में सुख प्राप्त कर सकते हैं । चित्तशुद्धि अर्जित करके ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, यही हमारे पूर्वजों की दृष्टि है । इस समय हम लोगों द्वारा नवनागरिकता के रूप में भोगलालसा प्रधान दृष्टि को बढ़ाते रहने से सभी इन्द्रियाँ दुष्टतापूर्ण जानवर जैसी हो गयी हैं। इससे वे इन्द्रियाँ अतिशीघ्र क्षीण हो जाती हैं । इसलिए इस बात को भी समझना चाहिए कि इन्द्रिय संयम रूप गोरक्षा भी अत्यावश्यक है। दूरदर्शी लोगों को कर्त्तव्य रूप में बच्चों को यह सिखाना चाहिए कि तात्कालिक विषयभोग को नियंत्रण में रखना अतिआवश्यक है ।

अब गौ शब्द के चौथे वाणी अर्थ को विचारार्थ स्वीकार करें । भारत देश की संस्कृति के रक्षणार्थ अत्यन्त पुरातन संस्कृति के इतिहास को प्रतिफलन करने वाली संस्कृत भाषा का परिचय यहाँ की जनता को समझाना अत्यन्त आवश्यक है। संस्कृत भाषा अधिकांश देशभाषाओं की जननी है और कुछ भाषाओं की

धात्री (दाई) है । विशाल शब्द भण्डार से युक्त संस्कृत भाषा ही आज की नवनागरिकता के आदरणीयांशों को स्वीकार करके पहले से ही आ रही भारतीय संस्कृति के साथ मेल-मिलाप करने की शक्ति रखती है । संस्कृत भाषा ही हमें याद दिलाती है कि हिमाचल से लेकर कन्याकुमारी पर्यन्त एक ही देश है, एक ही संस्कृति का निवास है इस प्रकार अनेकानेक कारणों से हमारे देश की अभिवृद्धि के लिए साधनरूप इस वाग्रूप गौमाता को मृतभाषा नाम से बार-बार पुकारते हुए उसको न मानने के प्रयास से गोहत्या का पाप हमें लगने ही वाला है

देशभाषा के अनुरूप राष्ट्र को विभाजित करेंगे इस औदार्यता के बहाने से देश को टुकड़े-टुकड़े करके प्रान्तों के बीच अन्योन्य वैरता उत्पन्न करने वाली हमारे देश की नीति भविष्य में आत्महत्या के रूप में परिणत हुई तो कोई आश्चर्य नहीं

जैसे यथाशक्ति प्रत्येक घर में गाय होना आरोग्य एवं कृषि दृष्टि से आवश्यक है, जैसे यहाँ पर सुखार्थ अनुकूल धर्मशिक्षा और इन्द्रिय-संयम से हमारे बच्चों को प्रशिक्षित करना जरूरी है वैसे ही देश की संस्कृति भारत देश की ऐक्यभावना और प्रान्त भाषाओं की प्रगति के लिए भी संस्कृत भाषा का परिचय होना हम सबको उतना ही आवश्यक है ।

इस प्रकार हमारे समस्त देशवासियों को यथार्थ रूप में पुण्य पुरुषार्थ उपलब्ध होना चाहिए तो

1. गाय-बछड़े के रक्षणार्थ पशुरूप-गोरक्षा
2. इन्द्रियसंयम
3. धर्मावलम्बन रूप गोरक्षा एवं
4. सर्वभाषा की प्रगति के साथ-साथ समस्त देश संस्कृति की अभिवृद्धि के लिए संस्कृत भाषारूप गौ की रक्षा ।

इस प्रकार चार प्रकार की गोरक्षा करना हम आज से ही शुरू करेंगे ऐसा संकल्प लेना चाहिए । इन चारों को करने के लिए गोविन्द की कृपा निःसन्देह

चाहिए । गायों का रखवाला भगवान् ही गोरक्षण में सहायक है । वह परमेश्वर ही हमारी नीति, धर्म, वैदिक संस्कृति इन सबके उद्धार के लिए कटिबद्ध है । गोरक्षा हमारा धर्म है, इस गोरक्षा रूप धर्म की दीक्षा लेकर उसकी रक्षा के लिए जो प्रयासरत है वे ब्राह्मण हैं । गौ ब्राह्मणों का उद्धार करने के लिए गोविन्द ही परमगति है इस वचन को हमें कभी नहीं भूलना चाहिए ।

***

74–ब्राह्मण्य का महत्त्व (मार्च 1968)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

अब मैं एक बहिरंग पत्र लिखने जा रहा हूँ । भरतखण्ड में स्थित हिन्दू लोगों में वर्णाश्रम के अनुरूप समाज का विभाजन किया गया है यह एक विशेषता है । अन्य समाज लोगों के जीवनस्तर के अनुसार उन्हें उत्तम वर्ग, मध्यम वर्ग, निम्न वर्ग के रूप में विभक्त करता है । केवल भरतखण्ड में मात्र पुरुषार्थ को लक्षित करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इस प्रकार चार वर्णों में विभक्त किये हैं । ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास ऐसे चार आश्रम रूप में भी जीवन को विभाजित किया जाना यहाँ की एक और असाधारण पद्धति है । अन्य समाजों में अपनी–अपनी सम्पत्ति वृद्धि होने से एक वर्ग वाले दूसरे वर्ग वाले बन सकते हैं, परन्तु यहाँ सभी वर्ण धार्मिक स्थिति को अवलम्बन किये हैं और वंशानुक्रम को अवलम्बन किये हैं । सत्त्व, रज, तमो गुणों के तारतम्य से उत्पन्न ब्राह्मण्यादि को आनुवांशिक रूप में हजारों वर्षों से चलाते हुए आया समाज केवल भारत देश में ही देखा जा सकता है अन्य देशों में नहीं ।

इसी प्रकार सुविभक्त मनुष्यों में अन्य प्राणियों के समान काम, क्रोधादि निमित्त से यदा–कदा संकरता फैल जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, परन्तु भगवान् धर्मप्रिय है । इसलिए उसको ब्राह्मण्य में विशेष अभिमान है । श्री शंकर

भगवत्पाद जी अपने गीता भाष्य में लिखते हैं कि– विवेक–विज्ञान ह्रास होने के कारण धर्म–अधर्म की वृद्धि से दबाया जाने लगा, अधर्म और भी बढ़ने लगा । तब जगत् की स्थिति को सुरक्षित रखने की इच्छा रखने वाले भगवान् ने भूलोक के ब्रह्म की अर्थात् ब्राह्मण्य की रक्षा करने के लिए वसुदेवजी से देवकी के गर्भ में अपने एक अंश से कृष्ण रूप में जन्म लिया । ब्राह्मण्य की रक्षा से ही वैदिक धर्म सुरक्षित रह सकता है न ? क्योंकि समस्त वर्णाश्रम भेद उसी के अधीन है ।

आचार्यजी के इस अर्थगर्भित वाक्य को समस्त ब्राह्मणों को मन में बैठाना चाहिए । अब कलिमहिमा से अधर्म की वृद्धि होने लगी है । लोगों में कामोद्भव होकर सम्यक्ज्ञान कुण्ठित होना ही इसके लिए कारण है । इससे जगत् की स्थिति में न्यूनाधिकता हो गयी हैं । अब भगवान् हो या भगवद्भक्त, महात्मा हो अवतरित होकर भूलोक के ब्रह्म–ब्राह्मण्य की रक्षा करना अवश्य हो गया है । ब्राह्मण्य की रक्षा से वैदिक धर्म की भी रक्षा हो जाती है । क्योंकि सभी वर्णाश्रम धर्म ब्राह्मण्य को ही अवलम्बन करते हैं । इतने अभिप्राय को विचारशील ब्राह्मण को बार–बार मन में जुगाली करते रहना अत्यावश्यक है।

इस लोक में चाहे कोई भी हो अपने धर्म का तिरस्कार करने पर पतित हो जाता है । इससे इह पर सुख उससे दूर हो जाते हैं । विषयभोग को ही सुख समझकर उस भ्रान्ति में पड़ने वाले को कामदेव अपनी गिरफ्त में ले लेता है, तब वह अधर्म करने लगता है । भोग और सुख भिन्न–भिन्न हैं । सुख मन को शान्ति प्रदान करके व्याकुलता–हैरानी को दूर करता है । सुख तो धर्म से ही मिलता है, अधर्म से कभी भी प्राप्त नहीं होता है । यह सब बात सामान्य व्यक्ति की है । ब्राह्मण का विषय इस प्रकार नहीं । ब्राह्मण यदि धर्म का परित्याग करने पर अधर्म से होने वाली अधोगति को प्राप्त करता है तो समाज में स्थित अन्य जनसमूहों को भी अधर्म के वश में करा देता है । इसलिए ब्राह्मणों के ऊपर बहुत बड़ा दायित्व है । ब्राह्मण स्वयं धार्मिक होना चाहिए, अन्य लोग भी

धर्माचरण करें, इसके लिए ब्राह्मण को सबके लिए आदर्श बनना चाहिए । यदि ब्राह्मण ऐसा न रहे तो अपने-अपने वैयक्तिक अधर्म के अतिरिक्त अन्य लोगों से किये जाने वाले पापाचरण में भी उसे हिस्सेदार बनना पड़ेगा । प्रपंच के अन्य भाग के अनुरूप भारत में भी शोरगुल-उन्माद-अशान्ति भर गये हैं । जनता कामपरवश होकर पापाचरण के बारे में न डरते हुए स्वेच्छाचारी बनती जा रही है

हे ब्राह्मण भाइयों ! आप में कुछ लोगों के अन्दर इसको रोकने की योग्यता अभी भी विद्यमान है । आप भारत देश को धर्म विषय में आदर्श बनाकर कीर्ति पायेंगे क्या ? अथवा सबको नरक मार्ग में पहुँचाकर स्वयं भी भ्रष्ट होकर पतन का ही रास्ता पकड़ेंगे क्या ? भली प्रकार विचार कीजिए ।

***

75-उपनयन और उपाकर्म (अगस्त 1964)

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पढ़कर मुझे बहुत दुःख हुआ । ''बालक के जनेऊ संस्कार (उपनयन) के लिए जो कर्ज किया था, वह अभी तक नहीं चुका पाया हूँ । अब कुछ लोग विवाहार्थ तैयार हो गये हैं । इन सब भारों से मुझे चिन्ता सता रही है । इस कारण से अध्यात्म साधन करने के लिए समय नहीं मिल रहा है।'' ऐसा आपने लिखा है । यदि सनातन धर्म का लक्ष्य आप जानते हैं तो इस प्रकार की चिन्ता के लिए अवकाश ही नहीं होना था । बालक का उपवीत धारण (जनेऊ संस्कार) कराना ब्रह्मचर्य के अंगरूप में है । ब्रह्म का अर्थ वेद और वेदोक्त परमात्मतत्त्व है । लम्बे समय तक बालक को उपनयन न कराकर उसको वेदाध्ययन से आप दूर रखे थे । यह बड़ी गलती है । उपनयन का अर्थ वेदाध्ययनार्थ गुरु के पास जाना । यह बात आपके कान में अभी तक नहीं पहुंची है । आपको उपनयन संस्कारार्थ काफी ऋण करना पड़ा परन्तु वह वास्तव में

अनावश्यक था । बालक को गायत्री–उपदेशार्थ योग्यता सम्पादन करने के लिए आपको अधिक संख्या में गायत्री जप करने की आवश्यकता थी अथवा उस कार्य के लिए कुछ योग्य ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर नियुक्त करना चाहिए था । व्यर्थ ही बन्धु–बान्धव अन्य सम्बन्धियों को दूर–दूर से आपने बुलाया । रेल किराया आदि व्यर्थ खर्च सबको करना पड़ा। उन लोगों से इस प्रकार अनावश्यक खर्च कराकर आप भी ऋण के फँदे में फँदे गये। लड़के को मात्र उपनयन का फल नहीं मिला ।

याद रखें कि उपनयन का अर्थ है वेदारम्भ । अब आप कनिष्ठ पक्ष मुख्य वेदमंत्रों को सिखाने के विषय में अनादर न करें । आपकी स्वशाखा के कुछ वेदमंत्रों को सही प्रकार से अर्थ सहित लिखवाकर मुद्रण करके उन मंत्रों का सही प्रकार से उच्चारण कराना सिखाइये । संध्यावंदन, अग्निकार्य आदि करते समय उपयुक्त मंत्रों की अर्थभावना सहित कर्म हो जावे, ऐसी व्यवस्था करें । मुद्रित पुस्तक की कुछ प्रतियों को ब्राह्मण ब्रह्मचारियों को उचित रूप से दिलवाइये । इससे ब्राह्मण उद्धार का पुण्य भी आपको प्राप्त होगा और उपनयन का प्रयोजन भी मिलेगा ।

***

76–नैष्ठिक ब्रह्मचर्य (मई 1968)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच गया । अभिप्राय ज्ञात हुआ । ब्रह्मचर्य ही ज्ञान सम्पादन के लिए उत्तम साधन होने के कारण मैं उसी का आचरण करते हुए आ रहा हूँ परन्तु इन दिनों में मुझे समुचित रीति से समय–समय पर भोजन मिलना कठिन हो गया है । बहुत समय के पहले ही विवाह करने की इच्छा समाप्त हो चुकी है । रहने के लिए आश्रय (झोपड़ी) और क्षुत्–तृषा (भूख–प्यास) परिहार का साधन

भी अप्राप्त होने के कारण क्या करें ? क्या न करें ? यह बात भी नहीं सूझती है । आपकी जानकारी में कहीं न कहीं भोजनादि की सुविधा से युक्त अध्यात्म साधन का स्थान है क्या ? यदि है तो कृपया मुझे जानकारी दीजिए और यह भी बताइये कि इस परिस्थिति में कौनसी साधना करना श्रेयस्कर है ? इस प्रकार आपने लिखा है ।

ब्रह्मचर्य माने विवाह न करना– इस प्रकार अर्थ करने के लिए कोई शास्त्राधार नहीं है। वेद में उपकुर्वाण–नैष्ठिक इस प्रकार दो (ब्रह्मचर्य) आश्रमों का वर्णन है । ब्रह्म का अर्थ वेद है । गुरु के समीप रहते हुए वेदाभ्यास करके धर्मजिज्ञासा करने वाला पहले वर्ग का (उपकुर्वाण) ब्रह्मचारी है । धर्म तत्त्व को जानने के अनन्तर अनुरूप स्त्री से विवाह करके श्रौत स्मार्त कर्म अनुष्ठान करते हुए श्रौत स्मार्त कर्मों का आचरण करना, साथ में अतिथि अभ्यागतों का सत्कार समाज का हित चाहते हुए स्वधर्म का आचरण भी उनका कर्त्तव्य है । मरणपर्यन्त गुरुसेवा करते हुए वेदाभ्यास करता हुआ धर्म से जीवनयापन करने वाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी है । उसको देवयानमार्ग के द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, ऐसी शास्त्रोक्ति है। आज के समय किसी कारणवश विवाह नहीं हुआ और अध्ययन का नाम भी नहीं वृषोत्सर्ग रूप में छोड़े गये साण्ड की तरह जहाँ–तहाँ घूमते हुए लौकिक कर्म में ही व्याप्त लोग भी स्वयं को **''नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं हम''** ऐसी डींग हांकते देखे जाते हैं। इस प्रकार जो लोग रागद्वेषों के लिए अवकाश देते हुए – जीवन को खतरे में डालकर रहते हैं उन्हें ब्रह्मचारी कहलाने से ''आसुरसम्पत् का सेवक'' कहना ही अधिक युक्ति–युक्त है ।

गृहस्थ वेदोक्त कर्म करते हुए साथ–साथ अपने को प्रिय किसी एक उपासना का भी अनुष्ठान करते हुए गृह पर ही वास कर सकते हैं, परन्तु अपरब्रह्म उपासना से परब्रह्म ज्ञान ही श्रेष्ठ है ऐसा समझने पर उन्हें भी ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिए गुरुकुलवास करना पड़ेगा । पिप्पलाद ऋषि के समीप सुकेशादि छह लोग

एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य से रहकर फिर प्रश्नपूर्वक जिज्ञासा करके तत्त्व जान लिये ऐसा उपनिषद् में कथन किया गया है । यह दूसरे वर्ग का ब्रह्मचर्य है । यह ब्रह्मविद्याप्राप्त्यर्थ किया जाने वाला ब्रह्मचर्य है ऐसा उस उपनिषद् भाग से अवगत् होता है परन्तु इस समय गार्हस्थ्यादि के अनुरूप वेदोक्त ब्रह्मचर्याश्रम ओझल (अदृश्यमान) हो जाना सच बात है । तथापि स्वेच्छा से कालयापन करते हुए वेदान्त या अन्य विद्या का अभ्यास करने की इच्छा है, ऐसा कहना कदापि शिष्टलोकसम्मत नहीं है । यमनियमादि से रहित होकर जिह्वा चापल्य की पूर्ति के लिए प्रयास करते हुए ''मैं ब्रह्मचारी हूँ, मुझे भोजन देने वाले कोई नहीं'' ऐसा दु:खी नहीं होना चाहिए । आश्रमोक्त यमनियमों का पालन करना चाहिए उसमें भी ''यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्'' (मनुस्मृति) इस कथन के अनुरूप मन:प्रधान यम अवश्य अनुष्ठेय हैं, नियमों का भी परित्याग नहीं करना चाहिए । परन्तु यमों का आचरण न करते हुए केवल नियमों का परिपालन करना व्यर्थ है, इसलिए भगवद्गीतोक्त अमानित्व, अदम्भित्व, क्षमा, ऋजुत्व इत्यादि ज्ञानसाधनों को सतत करने का व्रत आरम्भ करिए । इससे मन ब्रह्म में स्थापित होकर ब्रह्मनिष्ठा के योग्य बन जाता है । इस विषय में अधिक विवरण चाहिए तो कृपया फिर से लिखिए ।

***

77–संन्यास कब कैसे करना चाहिए (मार्च 1969)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच चुका है । ''मुझे बार–बार व्यवहार से वैराग्य हो जाता है । संन्यास स्वीकार करके आयु बिताने की इच्छा होती है । दो–चार महीने से यह इच्छा बलवती होती जा रही है । ''कब संन्यास धारण करूँ ?'' इस चिन्ता के कारण भोजन–पानी, व्यवहार, नींद इन सब विषयों में मन ही नहीं लगता है ।

घर-परिवार वाले भी बार-बार पूछने लगे हैं कि कौनसी चिन्ता तुम्हें सता रही है हम लोगों को इसके बारे में क्यों नहीं बताते हो ? इस प्रकार प्रश्न के ऊपर प्रश्न पूछते हुए मुझे पीड़ा देने लगे हैं । ऐसी परिस्थिति में मुझे क्या करना चाहिए, कृपया मार्गदर्शन देकर मेरी रक्षा कीजिए ऐसा आपने लिखा है ।

जैसे-जैसे अध्यात्मचिंतन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे व्यवहार से वैराग्य हो जाना, एक प्रकार का शुभलक्षण है परन्तु वह वैराग्य किस स्तर का है ? इस विषय को पहचान कर आगे का कदम उठाना चाहिए । आप बार-बार प्रश्न लिखकर पूछ रहे हैं । हो सकता है मेरे अब तक उत्तर न देने से आप दु:खी या नाराज होकर चुप हो जाते हैं । इसलिए आपको मेरे पास आकर मुखत: बातचीत करके आगे के बारे में निर्णय लेना अच्छा है । मेरी तूष्णीभाव से आप दु:खी न हों इसलिए यह पत्र संक्षेप से लिख रहा हूं, बाकी विषय आमने-सामने वार्तालाप करके ही निर्णय करना चाहिए ।

क्या आप ब्रह्मचारी हैं या गृहस्थ हैं ? इस विषय को आपने अब तक स्पष्ट नहीं किया है। यदि आप ब्रह्मचारी हो तो इतने लम्बे समय तक विवाह क्यों नहीं किया ? इसके बारे में पहले उत्तर दीजिए । क्या आपको वेदमंत्रों की जानकारी है ? संस्कृत भाषा ओर शास्त्रविचार संबंधी ज्ञान है क्या ? इस विषय को पहले आप पहचानिए । जो ब्रह्मचारी है उसे अध्ययन पूर्ण करके गुरुजी की अनुमति लेकर गृहस्थ होकर धर्माचरण करना चाहिए । जो गृहस्थ है उसे कुटुम्ब-पोषण और अतिथिसेवा करते हुए शास्त्रोक्त कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए । केवल कर्म का परित्याग करने से अथवा संन्यास वेशधारण करने से कोई प्रयोजन नहीं होता है, इस प्रकार गीता (3-4) में कहा है । गृहस्थ को व्यावहारिक फलों में इच्छा नहीं है अथवा लोकान्तर फलों में भी आसक्ति नहीं है, तब भी काम्यकर्म-परित्याग रूप संन्यास के द्वारा चित्त पावित्र्य को प्राप्त कर सकते हैं । ऐसा उसी गीता में (गीता 18-2) कथित है । इसलिए आपको अध्यात्मज्ञान को ही

सम्पादन करके संसार से मुक्त होने की अभिलाषा है तो शास्त्रोक्त कर्मों को यथाशक्ति करते हुए ''मैं कर्म करता हूँ'' इस प्रकार का सङ्ग और मुझे ''अमुक फल चाहिए'' इस इच्छा का भी परित्याग करके कर्म को ईश्वर को ही अर्पण करते हुए चित्तशुद्धि सम्पादन करके तत्त्वविचार करना चाहिए । यह भी एक प्रकार का संन्यास है । (गीता 18-5,6)

इन दिनों नैष्ठिक ब्रह्मचर्य (गुरु, शुश्रूषा में ही कालयापन करना), वानप्रस्थ (कायक्लेशप्रधान तपयुक्त आश्रम) ये दोनों भी आचरण में दिखते नहीं । इसलिए गृहस्थ होकर विरक्त हो गया हो अथवा ब्रह्मचर्य से विरक्त हो गया हो वह परमहंस संन्यासी हो सकता है परन्तु उसके लिए वेदान्तश्रवण, मनन और निदिध्यासन करने की इच्छा और शक्ति अवश्य चाहिए । इसके बिना ही जो संन्यासी कहलाना चाहता है वह प्रपंच से भी और परमार्थ से भी च्युत होकर उभयभ्रष्ट हो जाता है । इसलिए कर्मों को ईश्वरार्पण बुद्धि से करने योग्य गृहस्थाश्रम या परमेश्वर में ही एकान्त भक्ति से व्यवहार करते हुए गुरु समीप श्रवणादि करना रूप परमहंस को लक्षित किया गया आदर्श गृहस्थ अथवा आदर्श संन्यासी बनने के लिए प्रयास करें । इस बात को परित्याग करके आश्रम स्वीकार करना आत्मवंचना है । इसलिए ऐसी इच्छा न रखें यही मेरा निश्चित अभिप्राय है ।

***

78-विविक्तदेशसेवित्वम् (एकान्तवास) (मई 1970)

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पढ़ लिया । नैमिषारण्य के पास मेरा एक मित्र है । उसकी सहायता से (एकान्त में) तप करते हुए सत्कालक्षेप करने का संकल्प है । उसके लिए क्या-क्या पूर्व सिद्धता चाहिए ? ऐसा आपने पूछा है । मन तो चंचल है उसकी शान्ति के लिए विविक्तदेश (एकान्तप्रदेश) में वास करना सहायक

होता है, इस विश्वास से आपने पत्र लिखा है । यहाँ कुछ सूचना लिखता हूँ । जितना ग्राह्य है उतने अभिप्राय को आप व्यवहार में लावें ।

श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन को तत्त्वज्ञान के लिए आवश्यक अनेक साधनाओं की सूची बतलाये हैं । उसमें ''विविक्तदेशसेवित्वम्'' (एकान्तसेवन) भी एक है । मन जब एकान्तप्रदेश में जाता है तब स्वभाव से ही शान्त हो जाता है । ज्ञानयोग करने के लिए पहले ध्यानयोग की आवश्यकता है । उस ध्यानयोग साधना को लक्षित करके भगवान् ने इस ''विविक्तदेशसेवित्वम्'' साधन का वर्णन किया है । परन्तु योगारुढ़ होने के पहले जिसने कर्माचरण नहीं किया है उसके लिए एकान्तवास उचित नहीं है । जिसका चित्तमल कर्मानुष्ठान से दूर हो गया है, उसके लिए एकाग्रतापूर्वक तत्त्वसम्पादनार्थ एकान्तशीलता का संपादन करना अच्छा है । भगवद्गीता में इस ''एकान्तसेवन'' साधन कहने के पहले और भी कुछ साधनों को वहां कहा है । क्या आपने कभी इन साधनाओं के प्रति मन में विचार किया है?

असक्तिरनभिष्वंग: पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्त्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।। (गीता 13-9)

आपने इस श्लोक में कथित विषयों को मन में बैठाया क्या ? ''असक्ति'' का अर्थ विषयों में मन रागद्वेष से चिपकने के स्वभाव को छोड़कर उदासीन हो जाना है । पुत्र, पत्नी, घर, मठ, खेती, जमीन, पैसा इत्यादि में ''ये सब मैं ही हूं और मैं ही ये सब हूं'' इस प्रकार के भाव से रहित हो जाना ''अनभिष्वंग'' है । मुझे इतनी सम्पत्ति है, बन्धु-बांधव, मित्र सब हैं - यह सब भावना हम लोगों के न चाहने पर भी मन में बार-बार आती रहती है । इस मनोवासना से रहित हो जाना चाहिए । ये सब साधन आप में बैठ गये क्या? शत्रु-मित्र, उदासीन, द्वेषपात्र, इष्टजन, परिवार के लोग- इस प्रकार के भेदभाव आपके मन में कदापि नहीं आ रहे हैं न ? आपको इष्ट जो कोई भी पदार्थ प्राप्त होने पर भी

अथवा अनिष्टकर प्राप्त होने पर भी मन में उतार–चढ़ाव नहीं होता है न ? आप अपने मन की स्वयं परीक्षा कर लीजिए । यदि सबको आप अभी तक नहीं जीत पाये हो तो एकान्त में रहने पर आपके मन में वासना के प्राबल्य से इन सबका चिंतन आप ही आप शुरु हो जायेगा । इतना नहीं जैसे सूने घर में भूत–प्रेत वास करने लगते हैं वैसे ही आप अकेले होने पर ये सब भावनाएँ आपको जरूर परेशान करेंगी । जिस श्लोक में ''विविक्तदेशसेवित्व'' कहा गया है उसमें और भी साधन बतलाये हैं –

''मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।। (गीता 13–10)

इसमें पहला साधन भगवद्भक्ति भगवान् वासुदेव से बढ़कर अन्य कोई शरण नहीं है। वही मेरे लिए परमगति है इस प्रकार का अनन्य योग आप में है क्या ? मुझे कुछ भी नहीं चाहिए । धनबल, मित्रबल, मंत्रबल, औषधिबल, तपोबल, योगबल– ये सब मुझे चाहिए ही नहीं । केवल वह भगवान् ही मेरा सर्वस्व है इस प्रकार की मजबूत श्रद्धा आप में उत्पन्न हो गयी है क्या ? तब तो आपको एकान्तवास से अवश्य लाभ होगा । ''अरतिर्जनसंसदि'' अर्थात् संस्कारहीन, विनयादि–रहित, प्राकृतजनों के सहवास से दूर हो जाना। ऐसे लोगों के सहवास का व्यसनी न बनना ही अरतिर्जनसंसदि है । समाचार–पत्र, राजनीति सम्बन्धी वार्ता, कोर्ट–कचहरी का व्यवहार, अड़ोस–पड़ोस वालों की अच्छी–बुरी खबर – ये सब प्रसंग ही जिनके जीवन में ओतप्रोत (ताना–बाना) हो गये हैं वे ही प्राकृतजन हैं । वैसे लोगों का संग साधक को नीचे गिराता है । यह बात सच है कि जहां अशुद्धि नहीं हो, सर्पव्याघ्रादिभयरहित वन, नदी तट का रेतीला प्रदेश, निर्जन देवालय इत्यादि स्थलों में ध्यान, योगाभ्यास करने से मन शीघ्र ही प्रसन्न होने लगता है । परन्तु जिनका जीवन कर्माचरण, भगवदर्चन, सत्संग, शान्ति आदि का अभ्यास इन सब साधनाओं से रहित है, उनके लिए

एकान्तवास मन में दुर्वासनाओं का उफान लाने का ही हेतु बन जाता है । इन सब बातों को मन में घुमाकर ठीक-ठीक विचार करके ही अपना मनोनिश्चय करना चाहिए ऐसी मेरी सविनय सूचना है ।

***

79-परमतसहिष्णुता (नवम्बर-1949)

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

भरतखण्ड में अनेक मत हैं । यह सब अस्तित्व में रहने पर भी हमारे देश को शान्ति प्राप्ति नहीं हो चुकी है । एक मतावलम्बी अन्य मत के प्रति सहिष्णुता दर्शाते नहीं । प्रशासकजन धर्मविचार के आधार पर राज्यभार निर्वाह करना कष्ट मानकर अपने को 'लौकिक सरकार' (धर्मनिरपेक्ष) ऐसा घोषणा कर दिये हैं । जब स्थिति इस प्रकार होने से लोगों के मन में निराशा छा जाने के कारण 'कोई भी धर्म हो, अपने को क्या लेना-देना है', इस प्रकार उनके मन में विचार आ जाना स्वाभाविक ही है । इसके लिए कोई एक परिहार है तो आप कृपा करके सूचित करें, इस प्रकार लिखित आपका पत्र पहुँच चुका है।

इस प्रश्न का जवाब देने के पहले मुझे धर्म के दो विभाग आध्यात्मिक (आन्तरिक) और बाह्य (बाहर) के बारे में आपको समझाना पड़ेगा । बाह्यधर्म, भिन्न-भिन्न मतों में विभाजित होकर नानाप्रकार से प्रतीत हो रहा है । यहूदी, मुसलमान, क्रिश्चियन (ईसाई), जरथुस्त्रीय, हिन्दू, जैन, बौद्ध इत्यादि प्रभेद इन बाह्यमतों में विद्यमान है । संघ, चर्च, देवालय, मस्जिद इत्यादि से सम्बन्धित होते हुए रब्बि, पोप, मठाधिपति, प्रवादि (हजरत) इत्यादि आचार्यपीठ के अधीनस्थ है । भस्म, गोपीचन्दन, रूद्राक्ष, तुलसीमाला, जप, उपवास, यात्रा इत्यादि रूपों में प्रतिभासित भी होते हैं । एक-दूसरे से भिन्न अथवा परस्पर विरुद्ध आचारों से दिखाई पड़नेवाले इन बाह्यमतों के विषय में मतभेद होना

सहज ही है । जनता में उत्पन्न वैमनस्य और प्रशासन की तटस्थता इन्हीं मतविषय में है ।

परन्तु मत का दूसरा पहलू (भाग) भी है । वह हृदय और आन्तरिक अनुभव से सम्बन्धित है । ध्यानोपासना नाम के साधना से जुड़ा है । **हृदय पक्ष ही यथार्थ में धर्म है।** उसका मूल्य शाश्वत है । इस विषय को हमें स्मरण में रखना आवश्यक है कि इह (इस लोक) में सुख एवं पर (मरणानन्तर) में गति इसके द्वारा ही प्राप्त होते हैं । **आध्यात्मिक दृष्टि से अवलोकन किया तो कोई भी मत एक-दूसरे से अधिक नहीं है। सबका मूल्य बराबर है । परमेश्वर में प्रेम रखना और प्राणिमात्र परमेश्वर के बच्चे होने के कारण सबके हृदय में भी परमेश्वर विद्यमान है, ऐसा समझते हुए समबुद्धि का अवलम्बन करना, यही धर्म का सार है ।** इस दृष्टि में एक मतवाले का दूसरे मतवाले के साथ तिरस्कार दृष्टि से व्यवहार करना हो या एक मतवाले का दूसरे मतों के विषय में संशयग्रस्त होना हो, इन सबके लिए कोई कारण ही नहीं रहता है ।

जो शुद्धता के अंगरूप में बाह्याचार रूप धर्म है, वह अनावश्यक है, उसको हम छोड़ सकते हैं- ऐसा न समझें । पौधा अंकुरित होकर बढ़ने के लिए बागड़ अवश्य चाहिए । उसी प्रकार आन्तरिक धर्म की वृद्धि के लिए और सफल होने के लिए कतिपय आचार-विचार आवश्यक है । इसलिए सभी मतों में ये सब अल्पस्वरूप परिमाण में भी अवश्य विद्यमान है । भगवद्ध्यानार्थ कुछ स्थानों का चुनाव करना, वहाँ स्तोत्र पाठ-नमस्कारादि करना, जप-तप-यात्रा इत्यादि का आचरण, यह सब अनावश्यक है, ऐसा किसी भी मतवाले नहीं कहते हैं । भिन्न-भिन्न हवामान (जलवायु) के अनुसार आहार, विहार, वस्त्र आदि भिन्न-भिन्न होते ही हैं । इसी प्रकार आचार-विचार पृथक्-पृथक् होने पर भी इनका लक्ष्य केवल एक है। परमेश्वर की भक्ति अंकुरित करके बढ़ाना ही, इनसे होने वाला एकमात्र प्रयोजन है । जब ऐसा है तो आचार-विचार के तारतम्य से परस्पर

लड़ाई–झगड़े के लिए कोई कारण ही नहीं है ।

पृथक्–पृथक् मतानुयायिजनों के बीच समय–समय पर झगड़ा–मारपीट क्यों होते हैं ? धर्म का सार, हृदय से सम्बन्धित है, ऐसा अनेकजनों को ज्ञात न होना एक कारण है । स्वार्थियों द्वारा जन सामान्य को एक–दूसरे से लड़ाई–झगडे के लिए प्रेरित करना, दूसरा कारण है । हमारा प्रशासन यद्यपि स्वयं को लौकिक सरकार (धर्मनिरपेक्ष) कहता है, फिर भी धर्म की बाह्यरूप में एकरूपता कल्पित करने के लिए, समाजसुधारण को धार्मिक आचार–विचार में लागू करने के लिय उद्यत होना भी कुछ हद तक अशान्ति का हेतु बन गया है ।

यह सब शान्त होने के लिए धर्म के भीतरीसार को जाननेवाले महनीय लोगों को प्रजा को सटीक जानकारी देनी चाहिए । विश्वव्यापक धर्म एक ही है । हमारा यथार्थ आत्मा तो परमेश्वर है, इस परमार्थ को अन्वेषण करके सर्वत्र परमेश्वर भावना का विस्तार करना ही धर्म का मुख्य उद्देश्य है । इस विषय की जानकारी ज्यादा से ज्यादा लोगों को उपलब्ध कराना चाहिए । इस बात को अधिकाधिक प्रमाण से जानने लगे तो उतने हद तक विश्वव्यापक धर्म के विषय में अब जो भ्रान्ति हमारे अन्दर विद्यमान है, वह सब उड़ जायेगी । सभी को एक ही मत की दीक्षा देना, सब मतों के उपदेश को मिश्रण करके नवीन मत की स्थापना करना, अन्यमतों की निन्दा करते हुए एक मत की प्रशंसा करना, भौतिक विज्ञान के साथ मेल खानेवाले अथवा कर्म के साथ तालमेल बैठाने वाले नूतन धर्म को सबको प्रदान करना, सभी आचार को निरुपयोगी मानकर उनको दरकिनार करना, ये सब धर्म के एकत्व को अनुभव में लाने के लिए उपाय नहीं है । भगवान् की उपासना करना, सर्वत्र भगवद्भावना करते हुए सर्वभूतहित को ही लक्ष्य बनाये गये आचरण को पालन करना, केवल ये दो ही सबके लिए आचरण योग्य परमधर्म का चिह्न है । इस विषय को हमें मन में बैठाना चाहिए । तभी धर्म से होने वाला परमफल सबके अनुभव में आ जायगा ।

जहाँ आप जन्म लिये हैं, वहाँ की जनता में विद्यमान मत का बाह्याचार आपके लिए आवश्यक हो सकता है । वह आचार किस मनोभाव का संकेत है, इस बात को मात्र जानकार लोगों से समझना चाहिए । परन्तु दूसरे मत में अन्य प्रकार के आचरण हैं तो उसकी निन्दा न करें, तिरस्कार भी न करें । एक गाँव पहुँचने के लिए अनेक मार्ग हो सकते हैं न ? उसी प्रकार एक ही धार्मिक भावना के लिए अनेक बाह्याचार संकेत हो सकते हैं । इस बात पर विश्वास करें । उन सभी आचारों का लक्ष्य एकमात्र परमेश्वर ही है, इस वचन पर विश्वास कीजिए ।

***

80–पारिव्राज्य (दिसम्बर–1949)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपके द्वारा लिखित पत्र पहुँच गया है । मेरे एक मित्र संन्यासाश्रम स्वीकार करने की इच्छा रखते हैं, उसके लिए कितना खर्च सम्भव है ? उसके लिए कौन–कौनसा कर्म (धर्मिक क्रियानुष्ठान) करना पड़ेगा ? क्या कोई एक संन्यासी द्वारा ही उस आश्रम को स्वीकार करना चाहिए ? अथवा ब्राह्मणों द्वारा भी हो सकता है क्या ? आश्रम स्वीकारानन्तर क्या अपने बच्चे आदियों से भिक्षा प्राप्त करते हुए बच्चों के घर में ही रह सकते हैं ? इत्यादि प्रश्न पूछे हैं । इन सब प्रश्नों के उत्तर एक ही पत्र में देना असाध्य है। इसलिए सद्य कुछ प्रश्नों के उत्तर लिखूँगा । कालविलम्ब के लिए क्षमा चाहता हूँ ।

सर्वप्रथम आपको संन्यास शब्द का अर्थ जानना चाहिए । पुत्र के द्वारा मनुष्यलोक को, कर्म के द्वारा पितृलोक को और उपासना से देवलोक को जीत सकते हैं, ऐसा शास्त्रों में उक्त है । जो इन लोकरूपी फलों को चाहता है, उसे अवश्य ही उन फलों के लिए योग्य साधनाओं को अपनाना पड़ेगा न? परन्तु ये सब साध्यसाधन कोई भी नित्य नहीं है, ऐसा समझते हुए जो उससे विरक्त होता

है, वही संन्यास के लिए अधिकारी है । ''जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो गया, उसी दिन पारिव्राज्य को स्वीकार करना चाहिए'', इस प्रकार श्रुति कहती है । इसलिए आपके मित्र वैराग्यवान हैं क्या ? इस विषय के बारे में वे स्वयं ही पहले निश्चय करें । कुटुम्बनिर्वाह में त्रस्त होकर अथवा दारिद्र्य से तंग आकर गेरुआ पहनना कदापि संन्यास नहीं कहलाता है । किसी न किसी कारण से क्रोध में आकर छोड़ने से वह भी संन्यास नहीं बतलाया जा सकता ।

वैराग्य ही संन्यास की शाश्वत निधि है । अत: इसके लिए कितना खर्च करना पड़ेगा? यह प्रश्न ही नहीं उठता । स्वयं गृहस्थ है तो अपने पास जो धन है, उससे कितना खर्च करना चाहिए? इसको निर्धारित कर सकते हैं, परन्तु संन्यासाश्रम स्वीकार करने के लिए इतना ही पैसा खर्च करना चाहिए, ऐसा कोई भी विधान करना नहीं होता है । जैसे निबन्धग्रंथों में कथित है, उसी के अनुसार प्रायश्चित्त–श्राद्ध आदि करना चाहिए, यथायोग्य ब्राह्मणों को दानधर्म करें । अपनी सर्वसम्पत्ति को पत्नी और बच्चों को वितरण करके उनकी अनुमति से इस आश्रम को स्वीकार करें ।

यद्यपि केवल वैराग्य ही संन्यास के लिए पर्याप्त है । फिर भी परमात्मा का श्रवण–मनन– निदिध्यासन करने की उत्कट इच्छा रखने वाले ही इस आश्रम के मुख्याधिकारी हैं, जिसमें विरक्ति और मुमुक्षुत्व प्रबल है, वे जिस समय संन्यास लेना चाहते हैं, उस काल में वहाँ कोई संन्यासी मिलना कठिन हो तो ब्राह्मणों द्वारा अवश्य संन्यास स्वीकार कर सकते हैं, परन्तु आगे चलकर यतिधर्म जानने के लिए, वेदान्तविचार करने के लिए भी योग्य ब्रह्मनिष्ठसंन्यासी की परमावश्यकता है ।

इस समय में वैराग्यहीन और वेदांत में अभिरुचिरहित जन परमहंसपारिव्राज्य स्वीकार करते हुए देखे जाते हैं, परन्तु इसके लिए कोई भी शास्त्राधार उपलब्ध

नहीं है । जिस आश्रम में स्थित है, उस आश्रमकर्मों को त्याग करके किसी भी अनुष्ठान से रहित होकर पेट पूजा करनेवालों को संन्यासी कहने से भी पतित मानना ही युक्त है । जिसको केवल इहलोक के विषयों में विरक्ति है ऐसे जो अमुमुक्षुजन को स्मृत्युक्त त्रिदण्डसंन्यास को ही स्वीकार करना चाहिए, ऐसा आचार्यजी बृहदारण्यकभाष्य (3.5.1) में बतलाये हैं। **जो वेदान्त से विमुख है, आश्रमकर्मों को नहीं करते हैं, वैसे यतियों को इन्द्र ने काट-काटकर जंगली कुत्तों को खिलाया, ऐसा श्रुति वाक्य है ।**

इस पत्र को आपके मित्र को दिखलाइये । उनको पारिव्राज्य विषय में और कुछ संशय है तो मुझे अवगत कराने पर मैं जितना जानता हूँ, उसके अनुसार उत्तर दूँगा ।

***

81-जनता को सुधारना (अप्रैल-1950)

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच गया है । ''इन दिनों में लोग ज्ञान-वैराग्य-भक्ति का अनादर करके मनमर्जी बर्ताव कर रहे हैं न ? इसके लिए क्या प्रतीकार है ? जितना मेरे से होता है उतना लोगों को यथार्थ समझाते हुए कालयापन करते हुए रहना व्यवहार में यही एक उद्योग हो, ऐसा संकल्प किया हूँ । यथाशक्ति संस्कृत, भाषाभ्यास, वेदान्तग्रन्थावलोकन कर लिया हूँ । किस प्रकार चलने से मेरा संकल्प पूर्ण हो जायेगा, कुछ सूचना देने का अनुग्रह करें'', सो आपने लिखा है। अधुनातन लोगों का आचार-विचार देखकर आप दुःखी हो गये हैं, उसके परिहारार्थ कुछ न कुछ प्रयत्न करने का संकल्प मन में आ जाना शुभ संकेत ही मानना पड़ेगा । परन्तु लोगों को सन्मार्ग में लाना हमारे जैसे सामान्यजनों के लिए परमेश्वर के अनुग्रह के बिना संभव नहीं । यदि बलात्कार से लोगों का सुधार

करने लग गये तो अनेकों के द्वेष का पात्र बनना पड़ेगा । हमारी सहायता से जनता सन्मार्ग में आने के बदले हमारे ही सन्मार्ग से फिसल जाने का भय भी है

भगवान् के द्वारा चुने गये अधिकारी पुरुषमहनीय ही प्रजा के प्रति आदर्श उपदेशक हैं ।

ऐसा मत सोचिए कि मैं आपका उत्साहभंग करने का विचार कर रहा हूँ । आपके हृदय में अंकुरित इच्छा की सफलता के लिए मेरे द्वारा दी गई विनयपूर्वक सूचना है, ऐसा समझना चाहिए । इनमें जो उचित समझ में आता है उसको स्वीकार कर सकते हैं। नहीं चाहिए तो इसके बारे में अधिक विचार करने की आवश्यकता ही नहीं । सबसे पहले ''लोगों को ठीक रास्ते में लाना मेरा कर्त्तव्य है'', इस भावना को पूर्णरूप से परित्याग करिये । ''मैं अपने आचरण को सुधारुँगा । कोई मुझे पूछने से ही, मैं जिस यथार्थ को समझा हूँ, उसको मात्र अवगत् कराऊँगा'' ऐसा संकल्प करिए । ''अब दुनिया बिगड़ गई है, मेरे उपदेश से सुधर जाएगी'' यह एक कोरी भ्रान्ति है । प्रपंच तो जैसा होना चाहिए, वैसा ही है । उसमें सर्वदा कुछ विद्वान, कुछ अज्ञ, कुछ सज्जन, कुछ दुर्जन, कुछ आस्तिक, कुछ नास्तिक इस प्रकार रहते ही हैं । यही लोक की स्थिति है । दान, धर्म, परोपकार, उपदेश करनेवाले वास्तव में अपना–अपना पुरूषार्थ का साधन कर रहे हैं न कि वे यथार्थ में लोकोपकार कर रहे हैं । **बस इतना ही करना है, अपने पुरूषार्थ को स्वयं प्राप्त करें । लोक भी इन आदर्शों में अपने को जो चाहिए उसको बीन लेता है । कुछ लोग इस सन्मार्ग का अनुसरण भी कर सकते हैं । कुल मिलाकर स्वयं अपने उद्धार के लिए ही परिश्रम करना है।**

संस्कृत भाषा का बढ़िया अभ्यास करना और वेदान्तग्रन्थों का भी अभ्यास करना उत्तम ही है, किन्तु भाषा ज्ञान की वृद्धि, शास्त्रग्रन्थों का परिचय बढ़ाने से यथार्थ अध्यात्मज्ञान बढ़ेगा, ऐसा कोई नियम नहीं । विद्वान्, पण्डित, आचार्य इत्यादि उपाधि प्राप्त करना सुलभ है, परन्तु वास्तविक रूप में वेदान्त के लिए

आवश्यक शमदमादि सम्पादन करके शान्तदर्प होकर अन्तर्मुख भाव से आत्मतत्त्व का श्रवण–मनन–निदिध्यासनार्थ शीतल हृदय को सम्पादन करना बहुत कठिन है । लोक तो पण्डितों को पसंद करता है परन्तु जो वास्तव में साधक हैं और अनुभवी भी हैं उन महापुरुषों के आचरण का वह अनुकरण करता है।

इस विषय में हमें श्रीरामकृष्णपरमहंसजी के कथन को मन मे आलोड़न करना अच्छा है । ''मकरन्दपानार्थ फूल के लिए, मधुमक्खियों को 'आ जाओ', ऐसा आह्वान करने की आवश्यकता नहीं है, बस खिलना मात्र पर्याप्त है । उसकी सुगन्धि उन प्राणियों को आकर्षित कर लेती है। '' इसी प्रकार हम सबका भगवद्भक्ति में स्थिर होना पर्याप्त है । वह (परमेश्वर) हमें अन्य जनों को जैसे प्रयोजन होना चाहिए, वैसा उपयोग कर लेता है ।

***

82–उद्योग की महिमा (मई–1950)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पढ़ लिया है । ''बहुकाल तक वकीलीवृत्ति का कार्य कर लिया । यह वृत्ति अनेक दोषों से युक्त है, ऐसा मेरे मन में अधिकाधिक प्रतिभासित होने लगा है । इस मध्यमायु में अन्य वृत्ति का अवलम्बन करना असाध्य ही है । यद्यपि मन तो परमार्थसाधना की ओर झुक रहा है तथापि पूर्ण वैराग्य न होने से सब कुछ छोड़कर साधन को ही वरीयता देना नहीं हो पाया है । अभी तक मैं उस स्थिति तक आरोहण भी नहीं कर पाया हूँ । अबकी परिस्थिति में मुझे किस प्रकार चलना चाहिए, कृपया लिखिए'', ऐसा आपने प्रश्न किया है ।

व्यवहार में कौन किस उद्योग का अनुसरण करना चाहिए, इस बात को दूसरे के द्वारा समझाना होता नहीं, इस विषय को आप जानते ही हैं, किन्तु कोई भी

वृत्ति हो सर्वथा निर्दोष या निर्गुण कहना नहीं बनता है । वकीलीवृत्ति भी इस नियम का प्रतिषेधक नहीं । स्वत:रूप से इस वृत्ति को खराब कहना होता नहीं । इतना नहीं आप मन लगाएं तो आज से ही इस वृत्ति को इह पर दोनों के लिए साधन बना सकते हैं । इस दृष्टि से एक–दो वचनों को सूचना के रूप में यहाँ लिखता हूँ । जितना आपको उचित दिखता है, उतना उपयोग करें ।

आपने लिखा है कि कुछ लोग– सभी वकील लोग झूठ बोलने वाले हैं (Lawyers are liers) ऐसा कहावत बनाये हैं । इस कहावत में कोई दम नहीं है, क्योंकि अन्याय के द्वारा शीघ्र ही पैसा और कीर्ति सम्पादनार्थ झूठ बोलना आवश्यक हो सकता है, परन्तु झूठ बोलना ही चाहिए ऐसा कोई निर्बन्ध भी नहीं है । ''मैं सत्य ही बोलूँगा, मेरा कक्षीदार (Client) को अन्याय न होवे इसके लिए शक्त्यनुसार प्रयत्न भी करूँगा'' ऐसी प्रतिज्ञा करने पर अवश्य ही तदनुरूप व्यवहार कर सकते हैं, उसके लिए किसी की रोकटोक भी नहीं है ।

''मेरे मन का लगाव परमार्थसाधन की तरफ जा रहा है'' इसको सुनकर मुझे अतीव संतोष हुआ है । आपकी वृत्ति को ही परमेश्वर की आराधना मानकर कार्य करना आरम्भ करें तो तब आपको प्रपंच एवं परमार्थ दोनों में सिद्धि प्राप्ति होगी । यद्यपि कर्मयोग मुख्य रूप से शास्त्रीय कर्म के लिए ही उक्त है तथापि अपने–अपने उद्योग सम्बन्धी कार्य में उसके तत्व को अन्वित करने के लिए कोई बाधा भी नहीं है । निरपराधियों के ऊपर किसी न किसी दैवीकारण से कुछ आरोप लग सकता है, निर्धनों के लिए न्याय प्राप्त करने में कुछ बाधा रहती है । उन संदर्भों में ईश्वराधना बुद्धि से पीड़ित जनता के न्याय प्राप्त्यर्थ किया जानेवाला प्रयत्न एक प्रकार का कर्मयोग ही है । यथार्थ दृष्टि से देखा तो न्यायशोधन में सहायता करना ही वकील का कर्त्तव्य है । उसको छोड़ने से कर्त्तव्यलोप हो जाता है । युक्तियों के द्वारा न्यायप्राप्ति में विघ्न पहुँचाना, कल्पित प्रमाणों को पेश करना इत्यादि अन्यायरूप प्रयत्न करना भी महादोष को ही

लाकर खड़ा कर देंगे । इसलिए सत्यधर्म से बद्ध होकर स्ववृत्ति को ईश्वराधना मानकर करना इहपर के लिए साधन बनेगा इसमें कोई संशय नहीं है ।

कुछ लोगों को भय है कि यदि सत्यधर्म का अवलम्बन किया तो कष्टनिष्ठुर को सहन करना पड़ेगा, धनार्जन का परिमाण कम हो जायगा । इन सब भय-चिन्ता के लिए कोई कारण नहीं है, ऐसा मैं नहीं कहता हूँ, परन्तु असत्य, अधर्म से प्राप्त की गई धनराशि मनःशान्ति प्रदान करेगी, ऐसा कोई भरोसा नहीं है । गलतमार्ग से प्राप्त किया गया यश भी ज्यादा समय तक टिकता नहीं । परमार्थ दृष्टि से देखा तो वह नरक के लिए रास्ता है । सत्यधर्म से होने वाला कष्टनिष्ठुर किंचितकाल तक हमारी परीक्षा कर सकता है । अन्त में विजय तो सत्य की ही होगी । हाँ सत्यधर्म से प्राप्त होने वाला धन अल्प हो सकता है, परन्तु उससे हमको सुख-शांति अवश्य उपलब्ध होती है ।

मुझे कानूनी प्रपंच का अन्तर्विवरण के बारे में कोई भी जानकारी नहीं है, परन्तु इस बात का विश्वास नहीं कर सकता हूँ कि सत्य, धर्म, ईश्वरभक्ति को आपकी वृत्ति में अनुष्ठान में लाना असम्भव है। यदि मेरी बातों में अधिक विश्वास नहीं है तो आप कुछ दिन परीक्षा के लिए भी इस ऋजुमार्ग का अवलम्बन करके देखिए । हे भगवान्, मैं सत्यधर्म को न छोड़ते हुए मेरी कक्षीदार को अवश्य न्याय प्राप्ति कराऊँ ऐसी सहायता कीजिए । काम, क्रोध के वश होकर मैं अन्यायमार्ग में कदम न रखूँ, इस प्रकार प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल परमेश्वर से प्रार्थना करें । वह दयानिधि अवश्य आपकी प्रार्थना पूर्ण करके आपका व्यवहार को सुपथरूप में परिणमित करेगा ।

***

83-आश्रम संन्यास (जून-1950)

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपके प्रश्न का उत्तर अतिसंक्षेप रूप में लिखता हूँ । एषणात्रय का त्याग करना ही पूर्णरूप से संन्यास है, ऐसा यद्यपि शास्त्र में उक्त है । फिर भी परमहंससंन्यासी नाम से एक आश्रम को धारण करने वाले, आज के समय में गोचरित होते हैं । स्थान-स्थान पर आचार्यजी 'गृहस्थ के लिए ध्यानयोग नहीं कहा गया है, गृहस्थ को अनृतादि अवर्जनीय है' । आदि लिखकर संन्यास के प्रति जोर लगाते हुए लिखित वाक्य भाष्य में दृश्यमान है । ''मुझे तीव्र विरक्ति तो है, किन्तु संन्यासाश्रम को ही स्वीकार करना चाहिए, ऐसा आग्रह, अथवा 'नहीं चाहिए' ऐसा अनादर भी नहीं है । मेरे जैसे मुमुक्षु को संन्यासाश्रम स्वीकार करने में ही भला है क्या ? अथवा क्या गृहस्थाश्रम में रहना अच्छा है ? कृपया समझाइये'' । इस प्रकार आपने लिखा है ।

एतादृश विषय में एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति को सलाह देना कष्टकर है । फिर भी मेरे अभिप्राय को स्पष्टरूप में समझाता हूँ। इस बात को मनन करके आप अपना निश्चय करें । विरक्त को संन्यास ही स्वाभाविक है । गृहस्थ का कर्म जन्मान्तर, लोकान्तर में होनेवाले उत्तम फल के लिए भी और इस लोक में सम्भावित कुछ दृष्टफलार्थ भी करने योग्य है । स्पष्ट है कि इनमें जिसको रूचि नहीं, वह इन कर्मों को अनुष्ठान करेगा ही नहीं, जो केवल आत्मज्ञान की ही अपेक्षा रखेगा उसको आत्मविषयक श्रवण-मनन-निदिध्यासन ही आवश्यक है

इन सबके परिपूर्ण अनुष्ठान के लिए संन्यासाश्रम अत्युत्तम है, इस विषय में क्या कोई संशय है ?

परन्तु एक और विषय है । अब हम कर रहे वैदिक कर्म कौन–कौन से हैं ? क्या हम वेदाध्ययन और वेदार्थ विचार कर रहे हैं ? उनका और तत्सम्बन्धी फलों के मूल्य को पूर्णरूप से निश्चय करके वह सब हमको वास्तव में चाहिए ही नहीं, ऐसा निर्धारित किये क्या ? इस विषय को बहुत अच्छी तरह से मनन करना चाहिए । एक और विचार, हमें तीव्र वैराग्य आया है, इसका संकेत क्या है ? (यही है कि)– सब प्रकार के दृष्टादृष्टफलों को न चाहते हुए ''इसको करें या न करें ? ऐसा मन में डावाँडोल न करते हुए केवल आत्मा ही मुझे चाहिए'' ऐसी इच्छापूर्वक सर्वपरित्याग करना ही । इस प्रकार का वैराग्य जिसके अन्दर है वह क्या कभी पूछ सकता है कि– मैं इस आश्रम को छोड़ दूँ क्या ? परिपक्व फल डाली से टूटकर गिरूँ या न गिरूँ, ऐसा विचार करता है क्या ?

जो संन्यासी नहीं है, उनको विद्याधिकार है ही नहीं, ऐसा आचार्यजी नहीं लिखे हैं । वे लिखते हैं– ज्ञाननिष्ठा के लिए संन्यासी ही विशेषाधिकारी है, किन्तु यह तो अन्य विषय है । अब आपको विद्या में ही अभिलाषा है क्या ? क्या आप तत्वविचारार्थ देह सम्बन्धी सभी आनुकूल्य के परित्याग के लिए तैयार हैं ? भोजन–निद्रा आदि देह धारणार्थ व्यवहार के लिए अनिवार्य लौकिककाल को छोड़कर शेष सम्पूर्णकाल को तत्वविचार के लिए ही विनियोग कर रहे हैं क्या ? क्या आप इन्द्रिय और मन को भी तृप्ति उत्पन्न करने वाले (क्रीड़ा) विनोदादि दरकिनारे करके ब्रह्मविद्या के निमित्त केवल तत्त्वविचार करते हुए कालयापन करने के लिए तैयार हैं ? इस विषय को भली प्रकार मन में आलोचना करके आप ही आप उत्तर को ढूँढ लीजिए । तब ज्ञाननिष्ठार्थ, संन्यासाश्रम आपको आवश्यक है क्या नहीं ? यह बात स्वयं स्फुरित होगी ।

और एक विषय के बारे में आपका चिन्तन करना आवश्यक है । बाह्यलौकिक कर्म से भी जप, उपवास, सुरार्चन, व्रतपरिपालन इत्यादि नियम प्रधान कर्मों से भी भगवत्प्रेमप्रधान उपासना की तरफ आपका मन दौड़ रहा है क्या ? आपको

किसी भी लोकवार्ता में विशेष आदर नहीं उत्पन्न होता है न ? यदि ऐसा हो तो शम प्रधान आश्रम के लिए आपका मन अर्ह है । यदि ऐसा नहीं है तो उस आश्रम विचार को मन में नहीं लाना ही अच्छा है । अंत में आपको एक आत्मपरीक्षा – प्रकार को सूचित करता हूँ। उसके द्वारा आपके प्रश्न के लिए जल्दी उत्तर अन्वेषण कर सकते हैं । आप अभी संन्यासी हो चुके हैं, ऐसा समझ लीजिए । आपके बच्चों, परिवार, जमीन आदि में से – एक को भी उपयोग में लेने का अधिकार आपको नहीं है, ऐसी परिभावना करें । आप, अपने को अपरिचित, आपकी भाषा के भी अनभिज्ञ, आचार– विचारों में अत्यन्त भिन्न रूप में प्रतिभासित देश में हैं, वहाँ आपके संन्यास वेषमात्र से किसी भी प्रकार का आदर–सन्मान नहीं मिल रहा हो, वहाँ लोग भिक्षावन्दनादि के द्वारा सत्कार भी नहीं करते हुए, उलटा आपको संशयग्रस्त दृष्टि से ही देखना प्रारम्भ कर लिये हो, इतना ही नहीं, आपको समय–समय पर भिक्षान्न प्राप्त करना कठिन हो गया हो, ऐसा मान लीजिए। ऐसी सन्निवेश में आपकी चित्तवृत्ति किस प्रकार है ? अब भी आपको प्रवासादि के निमित्त थोड़ा पैसा रखना अच्छा था, ऐसी इच्छा उत्पन्न तो नहीं हो रही है ? ऐसी परिस्थिति में भी आपको अपना पूर्वाश्रम में घर में स्थित सुविधाओं का स्मरण तो नहीं हो रहा है ? ऐसी स्थिति में भी आपका मन अनवरत् रूप से परमात्मा चिंतन एवं परमात्मा विचार में समाधान से निरत है न ? यदि ऐसा हो तो विचार करिये – आप तुरीयाश्रम के समीप में है, नहीं तो अब आप जिस आश्रम में हैं, वही आपके लिए उत्तम स्थान है ।

परमात्मविचार, परमात्मध्यान, परमात्मभावना यही संन्यासाश्रम के कर्त्तव्य हैं । ईश्वर जीव कलारूप में सब में प्रवेश किया है । सभी प्राणियों में व्याप्त है । इस प्रकार की उदात्तभावना संन्यासी में होना चाहिए । मनुष्य या प्राणी हो इनमें पक्षपात से कृपा अथवा नैष्ठुर्य हृदय में नहीं उठना चाहिए । यही संन्यासी धर्म है । यह धर्म जिसको अच्छा लगता है, वह परिव्राजक

बनने में पीछे नहीं हटता है, जिसको इनमें अभिरूचि नहीं है, वह इस आश्रम के लिए योग्य भी नहीं है ।

***

84–ब्रह्ममुहूर्त में जग जाना (अगस्त–1950)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपने जो प्रश्न पूछा है, वह आपका शरीरारोग्य से सम्बन्धित है । ''प्रात:काल जल्दी बिस्तर छोड़ने से मेरा स्वास्थ्य बिगड़ जाता है । इसलिए मैं सूर्योदय के पश्चात् ही उठता हूँ । तदनन्तर आठ–नौ बजे स्नान करके पूजादि में लग जाता हूँ । इससे शास्त्र को अतिक्रमण करने का पाप मुझे लगेगा क्या ? मेरी आरोग्य स्थिति को दृष्टि में रखते हुए अब मैं कैसे शास्त्रविधि का पालन कर सकता हूँ ? सो आपने पूछा है ।

शरीर की आरोग्य स्थिति को खराब करके साधन करना चाहिए, ऐसा तो शास्त्र नहीं कहता है । मुख्यकाल में करणीय आह्निक को समय बीतने के बाद करने से भी चिन्ता नहीं है, उससे गौणकाल अनुसरण का फल मिलता है, यही शास्त्रकार की दृष्टि है, किन्तु ब्रह्ममुहूर्त में उठने की पद्धति को क्यों हमारे बड़े–बूढ़े लोग प्रशंसा करते हैं ? इस विषय के बारे में आपको जरासा विचार करना अच्छा है ।

प्रकृति में सब प्राणी रात्रि में निद्रारूप विश्राम ले लेते हैं । सुबह होते ही जाग जाते हैं। सायंकाल की वेला में हम सबको स्वाभाविकरूप से व्यवहार के हेतु थकान हो जाती है । इस आयासपरिहारार्थ परमेश्वर, हम सबको अपने स्वरूप में मिला लेता है । हमारे शरीर–इन्द्रिय–मन में जो श्रम था उसको परमेश्वर के अमृतस्पर्श से हटाकर शक्तिवर्द्धक औषधि पान किए रोगी के समान चैतन्य पाकर प्रात:काल उल्लासपूर्वक उठते हैं । तब शरीर का भार मालूम नहीं होता ।

सभी इन्द्रियाँ कार्य के लिए तैयार रहती हैं । मन उत्साह से ओतप्रोत रहता है ।

परन्तु जिसको प्रात:काल में सोने की आदत है, उनके लिए इनमें एक भी आनुकूल्य की प्राप्ति नहीं होती है । सुबह के समय में आराम से नींद लेने का अभ्यास जिसको है उसको स्वप्न दिखने लगते हैं इससे उनके मन को विश्रान्ति नहीं मिल पाती है । जागने पर भी शरीर में उल्लास नहीं रहता है । इन्द्रिय–मन भी कामकाज के लिए सिद्ध नहीं होते हैं । इसलिए जो विलम्ब से उठते हैं, वे जागने के अनन्तर भी बिस्तर पर अथवा दूसरी जगह में तन्द्रालस्य निवारण के लिए थोड़ी देर बैठे रहते हैं । यह तो प्रकृति विरूद्ध है, ऐसा कहने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

ब्रह्ममुहूर्त में जागनेवालों का चित्त प्रशान्त रहता है । उस समय स्फुरित होने वाला अभिप्राय दीर्घकाल तक बना रहता है । विद्यार्थियों को प्रात:काल कण्ठस्थ किया गया पाठ बहुकाल तक स्मरण में रहता है । इस विषय को सभी काल में, सभी देश में निश्चय कर लिया गया है । इस काल में (ब्रह्ममुहूर्त में) उत्तम संकल्प करना, उत्तम विचारों को मन में लाना, इस अभ्यास से मनुष्य का स्वभाव ही बदल जाता है । मनुष्य का राजस–तामस स्वभाव क्रम–क्रम से परिवर्तित होकर वह सात्विक बन जाता है । उनके लिए इस लोक में सुख निश्चित् है । परलोक का भय भी कम होता है ।

रात का भोजन कम करना, दुर्व्यसनों से दूर रहना, नौ अथवा दस बजे के अंदर ही सो जाना, इन सबका पहले अभ्यास करिये । आपके पर्याप्त नींद लेने पर प्रात:काल स्वाभाविक रूप से तत्क्षण आँखें खुल जाती हैं । तब तत्क्षण उठ जाने का अभ्यास करिए । थोड़ा परमेश्वर ध्यान करने के अनन्तर ही व्यवहार में हाथ लगाऊँगा– ऐसा संकल्प करें । आपके शरीर में आरोग्य और मानसिक स्वास्थ्य भी उपलब्ध होगा ।

***

85–अध्यात्मसाधन के द्वारा प्राप्त होने वाला प्रयोजन (अक्टोबर–1950)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँचकर सभी विषय चित्त में आरूढ़ हो गये । अब आपके सामने उपस्थित अपारकष्ट हमारी धृति पर भी परिणाम करना आश्चर्य की बात नहीं है बचपन से नामस्मरण करता रहा । बड़ों के द्वारा कथित सूर्यनमस्कार, पारायण इत्यादि की विधि समझकर करते हुए आया हूँ, परन्तु इन सबके द्वारा प्राप्त फल क्या है ? जो अपने ऊपर विश्वास रखते हैं, उन सबकी ईश्वर रक्षा करता है– इस विषय में मुझे संशय उत्पन्न हो गया है । वह संशय, मुझे अतीव बाधा पहुँचा रहा है, इत्यादि आपने लिखा है ।

जैसे–जैसे आपका पत्र पढ़ता गया, वैसे–वैसे मेरा दु:ख भी बढ़ता गया । आपको प्राप्त दु:ख–दर्द को कोई भी सुनेगा तो उनको भी दु:ख होना अवश्यंभावी है । परन्तु आप जो नामस्मरण आदि साधनाओं की निंदा करके लिखे हैं, उसको देखकर मुझे सबसे ज्यादा दु:ख हुआ है । 'मैं अमुक–अमुक साधना करने पर भगवान् मुझे अमुक–अमुक फल प्रदान करना चाहिए' इस प्रकार इच्छा रखनेवालों की संख्या बहुत है, वह गलत भी नहीं । विश्वास सहित साधना करनेवालों को कुछ फल उपलब्ध होना मिथ्या भी नहीं है, किन्तु साधना का अर्थ एक प्रकार का व्यापार नहीं । इतना मूल्य चुकाने पर इतना सेर चावल मिलेगा, इस नियम के अनुसार वहाँ साधनफलों का सम्बन्ध नहीं है । लोक में भी परिश्रम के अनुगुण धन, धन के अनुरूप भोग्यवस्तु इन दिनों में प्राप्त नहीं होती है । तो फिर अमुक साधन से इतने परिमाण का कष्ट परिहार, इतने परिमाण की भोग्य वस्तुओं का लाभ, अमुक–अमुक विद्यादि के सम्पादन – इस

प्रकार गणित लगाना किस सीमा तक उचित होगा ? आप ही विचार कीजिए ।

इस विषय को रहने दीजिए । **अध्यात्मसाधन में एक रहस्य है । साधन के द्वारा ईश्वर के संकल्प को बदल देंगे, या ईश्वर के नियम में परिवर्तन करेंगे– ऐसा सोचना बड़ी भारी गलती है ।** एक ईसाई धर्मावलम्बी श्रद्धालु ने बाइबिल में स्थित एक वाक्य पढ़ा था 'केवल एक श्रद्धा के द्वारा पर्वत को भी कम्पित कर सकते हैं' इस वाक्य का अर्थ न जानते हुए वह एक पहाड़ के सामने खड़ा हो गया । अरे यह क्या है ? बाइबिल का वचन मिथ्या सिद्ध हुआ क्या ? अथवा मुझ में ही श्रद्धा नहीं है क्या ? क्यों यह पर्वत हिला नहीं ? ऐसा सोचने लगा । यह ज्ञान किस हद तक ठीक है ? इस बात को कहने की जरूरत नहीं है न ? **ईश्वर में भक्ति, भगवत्कर्म में प्रेम – इनसे बाह्यप्रकृति नहीं बदलती है । हमारे अन्त:करण में नया संस्कार होता है । उससे हमारे व्यवहार में परिवर्तन आता है । इससे हमारी परिधि (घेरा) सुधरकर ठीक हो जाना स्वाभाविक ही है ।**

एक बालक ने घड़े में रखे हुए बादाम को मुट्ठी भरकर लेने के लिए हाथ डाला परन्तु मुट्ठी घड़े के मुँह से भी बड़ी थी, इसलिए हाथ बाहर नहीं निकल पाया । यदि वह दो–चार बादाम छोड़ दिया होता तो आसानी से बादाम मिल जाते थे न? लोक में हम सबकी आशा अधिक है । हम एक बार में ही उत्तम स्थिति में पहुँचना चाहते हैं । समाज के स्थानमान, आरोग्य, ऐश्वर्य, आयु, सन्तति, विद्याबुद्धि – सब कुछ लगातार बढ़ते ही रहे, यही हमारी बड़ी तृष्णा है परन्तु इसके अनुरूप स्वार्थत्याग, उद्योगशीलता, कष्टसहिष्णुता, सहन, स्थिर प्रयत्न इत्यादि को जीवन में लाने के लिए हम सिद्ध नहीं हैं। बदले में सोचते रहते हैं कि कभी कभार एक घण्टा भगवन्नामस्मरण करके, माला घुमाने से अथवा एक ग्रन्थ का इतना भाग पारायण करना है, इस बहाने से पढ़ने मात्र से हमको यह सब प्राप्त होना चाहिए, यह कैसी दुराशा है ?

साधन के द्वारा प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, ऐसा कहना नहीं बनता है । जो

ईश्वर में विश्वास रखते हैं, उनको वह कभी खराब नहीं करता है, अवश्य रक्षा करता है, यह वचन सत्य है, किन्तु हमने सततरूप से उसको मानना चाहिए । उनमें ही विश्वास रख के साधना करनी चाहिए । उनकी प्रेरणा के द्वारा व्यवहार में उपयुक्त रीति से प्रयत्न करने पर वह अवश्य सफल हो जाता है । मन को सुख–शांति मिलती है । इसलिए आप मेरी 'साधना व्यर्थ हो गयी' ऐसा कभी भी सोचना नहीं । ईश्वर में श्रद्धा रखकर कर्त्तव्य कर्म करते चलिए ।

***

86–उपन्यास एवं उपदेश (नवम्बर–1950)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपके गाँव में एक आध्यात्मिक विचार संघ की स्थापना होनी चाहिए, इसके बारे में आपका कौतुहल स्तुत्य है । ''यदा–कदा विद्वानों के द्वारा उपन्यास भी कराता हूँ, मैं भी अनेक उपन्यास दिया हूँ'' सो आपने लिखा है । यह भी प्रशंसार्ह है । परमेश्वर आपको आपके संघ के विकासार्थ प्रोत्साहन दें ।

परन्तु एक विषय में सावधानी बरतनी चाहिए । इन दिनों में कथा–प्रवचनों का प्रचार जोर–शोर पर है । प्रत्येक संघ–संस्था वार्षिकोत्सव, रजतमहोत्सव आदि (पुण्यतिथि, जयन्ती या सहायतार्थ इत्यादि) निमित्त से प्रवचनकर्ताओं की भाषणमालिका का आयोजन सब जगह फैला रही है । संस्था खुलने के पहले ही उसके निमित्त मुद्रित पत्रिकाशीर्षिकायुक्त कागज (Letter Head), मोहर (Rubber Stamp), वर्णन (Report) ये सब सिद्ध हो जाते हैं। वर्तमान पत्रिका में समय–समय पर सदस्यों (Member) के नाम, भावचित्र प्रकाशित होते हैं । ये सब व्यापारी संघ, राजकीय, सामाजिक सुधारण संस्थाओं को प्रयोजनकारी हो सकते हैं, परन्तु अध्यात्मविचार संघ के लिए अधिक हानिकारक है, क्योंकि प्रारम्भ में ही साधकगण अपने विचारक्रम को स्वयं पसंद करके, डींग हांकने

वाले दाम्भिकजन बन जाते हैं और अध्यात्ममार्ग से च्युत हो जाते हैं ।

अध्यात्मविचार अपने-अपने अन्तरंग से सम्बन्धित है । ईश्वर एवं हमारे अन्त:करण के बीच विद्यमान सम्बन्ध को जितना रहस्यरूप से रखेंगे, उतना हमारे लिए हितकर है । हमारे जैसे साधनामार्ग में चलनेवाले छोटे-बड़े भाईयों से मिलकर तत्वविचार करना गलत नहीं है । इससे परस्पर प्रोत्साहन मिलेगा, प्रोत्साहन से साधना में सहायता भी प्राप्त हो सकती है, परन्तु हमारा अभी विषय को समझने के पहले ही भगवत्प्राप्ति हमको होने से पूर्व में ही, ''हम सब कुछ अवगत कर लिए हैं'' ऐसा अभिनय (Acting) करना, अज्ञान का प्रदर्शन नहीं तो और क्या है ? हमें विषय का बोध न होने पर भी और साधना भी हमारे अन्दर ठीक से नहीं बैठी हो फिर भी ध्यानयोग, वैराग्य, जीवनमुक्ति इत्यादि बड़े-बड़े विषयों के बारे में प्रवचन करना, उन विषयों का मजाक उड़ाना नहीं है क्या ? यद्यपि हम कुछ भी नहीं जानते हैं, तथापि अन्य लोगों को उपदेश देने के लिए उद्यत होना तो आत्मद्रोह, गुरुद्रोह, देवद्रोह- सब कुछ होगा न ? इसके बारे में पूर्ण विचार करिए ।

आपकी संस्था में यदि कोई तत्वदर्शी महात्माजी का उपदेश उपलब्ध हुआ तो अवश्य श्रवण करना चाहिए । उनके उपदेशानुसार आचरण करना चाहिए । वैसे आचरण करने में यदि कोई बाधा है तो उनको सूचित करके उचित परिहार को समझना चाहिए अथवा अपने अनुभवों को गुप्तरूप में विनिमय करके साधना में एक-दूसरे का अनुभव को उपयोग करना चाहिए । यथार्थ मे, यह सब वास्तविक अध्यात्मसंघ के चिह्न हैं ।

यदि आपको कोई ज्ञानी महात्मा प्राप्त नहीं हुआ तो भगवद्गीता, भागवत, अध्यात्मरामायण जैसी पुस्तकों को भक्ति-श्रद्धा से युक्त होकर अध्ययन करें । उनके अर्थ को समझ में आवे, वहाँ स्थित उपदेश जीवन में लाने के लिए अनुग्रह करो, ऐसा परमात्मा से प्रार्थना करें । प्रासादिकरूप में अनुभवी साधुसंतों के

द्वारा लिखित ग्रन्थ, उपदेश के स्थान में विद्यमान रहते हैं ।

परन्तु कदापि संघ सम्बन्धी रिपोर्ट को प्रचार रूप उद्देश्य के लिए मुख्य रूप में परिगणना न करें । जिसको आप, अपने से अधिक समझदार, विरक्त, ज्ञानी हैं, ऐसा निश्चयरूप से समझते हैं, केवल उनके साथ अपना विषय व्यक्त करके (तत्सम्बन्धी) गुणदोष समझाने के लिए उनसे अनुरोध करें ।

वर्तमानकाल में स्वभाव से ही लोगों में कामक्रोधादि बढ़ रहे हैं, बिना उपदेश के ही दम्भ, दर्प, अभिमान सब आप ही आप आकर हमारे अंदर घर बसा रहे हैं उन सबको उखाड़ फेंकने के लिए भगवन्नामस्मरण, अर्चना, ज्ञानीजनों की सेवा, उनके उपदेश श्रवण, ये ही उपाय हैं, ऐसा मेरा अभिप्राय है।

***

87–गीता का उपयोग किस प्रकार करें
(दिसम्बर–1950)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच गया है । ''प्रत्येक वर्ष गीता जयंती का आयोजन जहाँ–तहाँ करवाते रहते हैं। हमारे स्कूल में भी यह उत्सव का आयोजन होने वाला है । प्राय: बड़े–बूढ़े लोग ही इसमें भाग लेते हैं । सच है कि वह होने वाला उपन्यास हमारे लिए उत्साहजनक होता है, परन्तु हमारे सदृश बालक क्या करें? इसकी जानकारी मुझे अभी तक नहीं है । गीताजी को हमें किस प्रकार उपयोग करना चाहिए ? इसके बारे में कृपा करके कतिपय सूचनाओं का आदेश करें'' । ऐसा आपने लिखा है ।

यह प्रश्न अतिमुख्य है, क्योंकि स्कूल में होने वाले उत्सव, स्कूल विद्यार्थियों के लिए प्रधान रूप में प्रयोजनकारी होना उपयुक्त है । मेरी जानकारी में जो थोड़ा कुछ विषय है, उसको इस संदर्भ में आपको समझाता हूँ । इसका उपयोग

आपको करना चाहिए, ऐसी प्रार्थना करता हूँ।

गीताजी में बहुत उच्चकोटि के विचार हैं। वह सब तुम लोगों के समझ में आना कठिन है, परन्तु एक-दो वाक्यों को तुम लोग अब भी मनन कर सकते हो ऐसा करने से तुम लोगों का कल्याण भी होगा। उदाहरण के लिए गीता जयंती के दिन अर्जुन द्वारा किये गये श्रीकृष्ण भगवान् के स्तोत्र में से, इस श्लोक को धीरे-धीरे उच्च स्वर से रागपूर्वक गायिए। गायन करते समय इन श्लोकों के भावार्थ को भी मन में रखना चाहिए।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ।। 11.36।।

भावार्थ- भगवान्, तुमको कीर्तन करने से जगत के लोग अत्यन्त हर्षित होते हैं। अनुराग से अन्वित भी होते हैं। राक्षस लोग भय से दिशाओं में पलायन करते हैं। सभी सिद्धसंघ नमस्कार कर रहे हैं।

इस श्लोक का यही अभिप्राय है कि भगवान् का गुणगान करने पर, उनके नाम का कीर्तन करने से, हमारे लिए बहुत आनन्द उत्पन्न होता है, क्योंकि वह भगवान् हम सबकी आत्मा है। इससे हमको भगवान् में अनुराग उत्पन्न होता है। वह हम सबकी आत्मा होने के कारण हमें सभी में अनुराग उत्पन्न होगा और हमारे प्रति भी सबको अनुराग उत्पन्न होगा।

केवल इतना ही नहीं। राक्षस, माने हमको पीड़ा देने वाले गलत चिंतन, अब हमारे अन्दर ठहर नहीं सकते हैं, क्योंकि भगवन्नामकीर्तन खराब विचारों को मार भगाने वाला महामंत्र है। भगवान् माने, अत्यन्त उत्तम गुणों की खदान, वह हमारे हृदय में स्थित है, इस विषय को मन में लाने से वहाँ दुष्टभावना कैसे रह सकती है ?

भगवत्कीर्तन से और एक फल भी उत्पन्न होगा। सभी सिद्ध भगवान् के

सेवक हैं । कार्य को संकल्पमात्र से करने की शक्ति रखने वाले सिद्ध होते हैं । भगवद् भक्ति से ही उनको सिद्धि मिल गयी है, इसलिए वे सर्वदा परमेश्वर को प्रणाम करते रहते हैं । भगवान् का कीर्तन करने वालों के हृदय में भगवान् वास करते हैं, इसलिए सिद्धजनों का नमस्कार कीर्तनकारों को भी पहुँचता है, अर्थात् उनको भी उन भगवद्भक्त के अनुरूप सिद्धि मिलती है । उनकी मनोकामना परिपूर्ण होती है । इस अभिप्राय को मन में रखते हुए ऊपर लिखित श्लोक का कीर्तन करना चाहिए । यह पत्र तुम लोगों को गीता जयंती के दिन न मिलने पर भी कोई चिन्ता नहीं । तुम इसको जिस दिन पढ़कर मन में बैठाओगे उसी दिन तुम लोगों के लिए गीता जयंती होगी ।

इसी स्तोत्र से एक और श्लोक उदाहृत करता हूँ ।

नमःपुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।

अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।। 11.40।।

भावार्थ– आगे से तुमको प्रणाम, पीछे से तुमको प्रणाम, हे सर्व तुमको सब ओर से नमस्कार । तुम अनन्तवीर्य हो, अनन्तविक्रम हो, सबको व्याप्त कर लिये हो, इसलिए तुम सर्व हो ।

इस श्लोक से क्या जानना चाहिए कि भगवान् के गुणगान को हम जहाँ चाहें वहाँ कर सकते हैं । उनके नाम कीर्तन से हमें सर्वदा, सर्वत्र उत्तम फल ही होता है । दुष्ट संकल्प छोड़ के भाग जाते हैं, सद्भावना आकर घर बसाती है । आरम्भ किये कार्य पूर्ण होते हैं । हमारे समान परमेश्वर एक देह में परिच्छिन्न नहीं है । यदि ऐसा हो तो वह एक देश में, एक काल में मात्र विद्यमान होता था । हमारी तरह उनके शरीर का कोई माप नहीं है । वह सर्वत्र विद्यमान है । यह कैसे संभव है ? ऐसी शंका न करें । यद्यपि हमारा मन देह में स्थित है, जहाँ चाहे वहाँ व्याप्त होकर कोई भी विषय हो, उसको सोचने की क्षमता रखता है न ? इसी

प्रकार व्याप्त है, वह भगवान् । वह मन को भी व्याप्त कर रखे हैं, ऐसा पण्डित लोग कहते हैं । इसलिए उस भगवान् के विषय में अब यहीं मेरे सामने, पीछे, दायें, बायें, ऊपर–नीचे, सब तरफ विद्यमान है, ऐसी भावना करें।

उस भगवान् के लिए असम्भव नाम का कार्य नहीं है । उनके विक्रम से वश में न आवे ऐसा कुछ भी नहीं । जो कोई भी हो ''भगवान् यहीं विद्यमान है, अभी भी विद्यमान है'' इस भावना से भगवान् का कीर्तन करते हैं, उनके समस्त कष्ट परिहार हो जाते हैं । हमें कष्ट नहीं आता, ऐसी बात नहीं । कष्ट आने पर भी उनको सुलभ रीति से वे भक्त पार कर लेते हैं । इन सबको मन में धारणा करके इस श्लोक का गायन करिये ।

इस गीता जयंती के दिन इन श्लोकों को मनःपूर्वक गायन करने के लिए आरम्भ करिए । आगे भी प्रतिदिन ''भगवान् सर्वव्यापक् हैं, सभी में वह आत्मरूप में विद्यमान हैं। उनके नाम कीर्तन से और गुणगान से भी हमारे इष्टार्थ सम्पन्न हो जाते हैं । अनिष्ट सभी परिहार हो जाते हैं। '' इस प्रकार विश्वास करके गाते हुए आइये । आपका जीवन ही मंगलमय हो जायगा ।

***

88–सात्विक वेषभाषा (जनवरी–1951)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

''हमारे लड़कों को देवभक्ति पसन्द आने के लिए क्या करना चाहिए ? वर्तमान काल मे बड़े लोगों को भी व्यवहार अधिक होने के कारण फुरसत नहीं मिलती । व्यवहार में तो श्रद्धाभक्ति के लिए कोई मौका ही नहीं है । ऐसी परिस्थिति में बच्चों में ऐसी उत्तम भावना कैसे सम्भव है । अनुष्ठान योग्य कोई आचरण है तो कृपा करके सूचित करें'' इस प्रकार आप पत्र में लिखे हैं । उसके लिए अब उत्तर लिखता हूँ ।

आप जो पूछे हैं, उसके लिए तत्क्षण आचरण योग्य साधन बताना मुझे थोड़ा कठिन मालूम पड़ रहा है क्योंकि अब रोटी-कपड़ा निमित्त पर्याप्त रोकड़ा सम्पादन के लिए ही प्राय: हमारा सारा समय विनियोग हो रहा है । फिर भी अधिक संख्या में लोग गरीबी में ही कालयापन कर रहे हैं । इसको देखने से हमारे व्यवहारक्रम में ही कोई दोष है, ऐसा कहना पड़ेगा । ऐसा होने पर भी, न जाने क्या माया कि लोग अपना जीवनक्रम सुधारने के बारे में जरा सा भी विचार नहीं कर रहे हैं । उसके बदले जीवन में कष्ट अधिक पैदा करने वाले व्यवहार को ही बढ़ा रहे हैं । इस कारण से ईश्वर भक्ति को अंकुरित कर वृद्धि करने वाले साधन के लिए अवकाश नहीं होना वास्तविकता है । फिर भी एक-दो सूचना आपको देता हूँ। आप उनको अधिक से अधिक आचरण में लाकर देख सकते हैं।

हमारे वेष, भाषा हम लोगों की भावनाओं पर अधिक परिणाम करते हैं, इसके लिए एक उदाहरण दे सकते हैं । अंग्रेजी लोग जब हम लोगों के ऊपर शासन करते थे, तब बड़ी युक्ति से, हम लोगों की समझ में न आवे वैसे हमारी वेष भाषा और बाह्यआचारों को भी परिवर्तन कर दिये। जुब्बा, शर्ट, पेंट, पाइजामा, कोट इत्यादि विन्यास (Design) के वस्त्र आवश्यक हैं, ऐसा अभिप्राय हमारे अंदर अंकुरित हुआ था । अंग्रेजी बोलना, लिखना, जिसको नहीं आता है, उसको गौरव या व्यवहार में मान-सम्मान मिलना कठिन है, ऐसी भावना मन में तब प्रतिबिम्बित होने लगी थी, परन्तु देशभक्ति वाले जन इन सब में बदलाव ले आये । खद्दर के एक दो कपड़े से ही हमारा व्यवहार चल जायेगा और हमको उससे गौरव भी उत्पन्न होगा, इतना ही नहीं मितव्ययी से पैसे की बचत भी होगी, इससे देश की सम्पत्ति में वृद्धि होगी । इस ज्ञान को बड़े-बड़े जननायक हमें अवगत् करा दिये । हिन्दी भाषा प्रचार करके अंग्रेजी व्यामोह को घटा दिये । इसके परिणामस्वरूप लोगों को तत्क्षण से ही आई.सी.एस.परीक्षा,

रायबहादुर इत्यादि उपाधि, विदेशी शिक्षणार्थ प्रयाण इत्यादि में, जो पागलपन था, वह छूट गया । सत्य, अहिंसा, देशभक्ति, सत्याग्रह इत्यादि वचनों का उपयोग बढ़ गया । जनता का मनोभाव परिवर्तित हो गया ।

इस उदाहरण का हमें थोड़ा कुछ तो अनुकरण करना सीखना चाहिए । तब हमारे बालकों में धर्मबुद्धि उत्पन्न होने के लिए अवश्य रास्ता प्रशस्त हो जाएगा । स्नान, भोजन, फलाहार इत्यादि को मनमानी रीति से जहाँ–तहाँ करना तत्क्षण बंद करके अधिक से अधिक शुद्धजल, आहारपदार्थ इत्यादि को प्रयत्नपूर्वक सम्पादित करना चाहिए । उस समय परमेश्वर का नामकीर्तन, स्तोत्र इत्यादि को आचरण में लाना चाहिए। उत्पन्न हुए लड़कों को चड्डी, पेंट, शर्ट, कुर्ता सिलाई करके पहनाना, बाल को क्रॉप कट करके कंघी लगाना सिखाना इत्यादि पागलबुद्धि को कम से कम कुछ हद तक तो कम कर देना चाहिए । देवालय में, घर में विशेष उत्सवकाल में – कनिष्ठ पक्ष इन संदर्भों में शुद्धाचार को संकेत करने वाले धोती, भस्म, नाम (तिलक), इत्यादि का उपयोग करना, उपनयन, उपाकर्म, मन्त्रोपदेश इत्यादि को यथाकाल में यथाविधि अपनी–अपनी परम्परानुसार करना, संस्कृतस्तोत्र, मंत्र–तंत्र आदि द्वारा संस्कृत भाषा प्रेम को उन्नत करना, इन कार्यों को तत्क्षण आरम्भ करना चाहिए । पूजा, उत्सवादि दिनों में हमारी शक्ति से भी अधिक भक्ष्य–भोज्य तैयार कर पैसा बर्बाद करके, समय नष्ट करने के बदले, ईश्वर स्मरण जाग्रति के लिए अनुकूल जो पूजा, अभिषेक, पारायण इत्यादि के आयोजन के तरफ मोड़ना चाहिए ।

यह सब पुराने जमाने का सम्प्रदाय है, ऐसी कभी भी अवहेलना न करें । ईश्वर भक्ति तो हृदय से सम्बन्धित है, इसलिए बाहरी वेष–भाषा से क्या मतलब है ? इस प्रकार के शुष्क वेदान्त वचनों के उपयोग को त्याग देना चाहिए । हाथ में शस्त्र धारण करने वाला, उसका एक न एक दिन अच्छे या बुरे कार्य के लिए अवश्य विनियोग करेगा ही, इसी प्रकार शुद्धाचार, शौच,

विनय आदि के अभ्यास एक न एक दिन सात्विक भावनाओं में ही पर्यवसान हो जाते हैं ।

इन दिनों में सबके मन में देशभक्ति, राजकीय विचार ही भरकर उफान पर है। जहाँ देखो, वहाँ जननायकों (नेता लोगों) का भावचित्र दृष्टिगोचर हो रहा है । सर्वत्र, सम्पूर्ण जगत की वार्ता पहुँचानेवाली पत्रिका वाचनालय में देखने को उपलब्ध है, किन्तु अपने–अपने घर पर परमेश्वर एवं उनके भक्त सम्बन्धी दो–चार चित्र भी क्यों नहीं रहना चाहिए? कभी–कभी देवालयों में ईश्वरभक्ति वृद्धि करनेवाला उत्साहजनक भाषण क्यों नहीं होना चाहिए ? भक्तजनों के सदाचारमय जीवन को समुचित रीति से प्रदर्शित करनेवाले चलनचित्र (सिनेमा) क्यों नहीं होवे ? इन सबका आपको और आपकी मित्रमण्डली को मिलकर विचार करना चाहिए, इस विषय में आपका अभिप्राय क्या है ? इसके बारे में एक पत्र डालिए ।

***

89–व्यवहार में न चिपकना (मार्च–1951)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आप जो प्रश्न पूछे हैं, वह व्यवहार में संलग्न सभीजनों को अन्वय होता है । आपके सरकारी नौकरी में होने पर भी दैवयोग से अतीव परिशुद्ध, उपाध्यायवृत्ति में आप निरत हैं और भी अनेक लोग व्यवहार में अनेक संकष्ट के लिए अवकाश देने वाली भिन्न–भिन्न नौकरी कर रहे हैं । उच्च अधिकारियों के लिए उत्तरदायी होना और बड़े लोगों की निंदा का पात्र बनना उन सबके लिए समान है । इतना होने पर भी व्यवहार तो करना ही पड़ेगा न ? इससे भिन्न–भिन्न मनस्तर वाले जनों के संग से पृथक्– पृथक् परिणाम होना स्वाभाविक है । इसलिए व्यवहार करते हुए भी मन में विक्षेप न हो, ऐसा किस प्रकार सम्भव है ? यह हम सबकी

समस्या है ।

लोक में हजारों में कोई एक–दो जन, सारे कुछ व्यवहार को हसन्मुख से स्वागत करते हैं । इष्टानिष्ट दोनों को समभाव से ले लेते हैं, कुछ लोग अपने को अनिष्ट प्राप्त होने पर अथवा यद्यपि अनिष्ट प्राप्त नहीं हुआ फिर भी अनिष्ट की कल्पना करके, तत्तद् सन्दर्भों में मन में दु:ख बढ़ाकर लोक व्यवहार को कड़वा बनाते हुए देखे जाते हैं । जैसे आपने अपनी दु:खभरी कहानी सुनाई है, वैसे ही कुछ लोग सारा व्यवहार को परित्याग करके चुप बैठना चाहते हैं, परन्तु ये सब समुचित मार्ग नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण व्यवहार को छोड़ देना किससे हो सकता है ? किसी न एक व्यवहार के बिना इस लोक में जीना असम्भव है । गाँव–बस्ती छोड़कर जंगल जाकर तपस्या करना, काशी यात्रादि करने के लिए चला जाना अथवा गेरूआ वस्त्र पहनकर परिव्राजक बनना, यह सब व्यवहार ही है । इस विषय को आपको बुद्धि में ठीक तरह से बैठाना चाहिए ।

मेरी भावना यही है कि अब आपको गीता में कथित कर्मयोग के भाव को मन में लाने के लिए समय आ गया है । सामान्यरूप में जो बच्चों के मुख पे प्रसन्नता है वह हर प्रकार के कष्ट परिहार के लिए साधना है । आप विद्यार्थियों को जब भी देखेंगे, उनमें परमश्वेर विद्यमान है और उनकी आराधना करने के लिए हम कटिबद्ध हैं, ऐसी भावना करिए । लड़कों को मैं पढ़ाता हूँ, इस अभिमान का परित्याग करिए । उनके रूप में परमेश्वर ही मेरी परीक्षा कर रहा है, सहिष्णुता, समाधान, ज्ञानरसिकता, विचारप्रियत्व, समयोचित आचरण– इन सबको अनुग्रह करने के लिए परमेश्वर से कल्पित सदावकाश यह है, ऐसी भावना करते हुए कार्य को पूज्य भाव और श्रद्धा से भी चलाते रहिए ।

लड़कों के माँ–बाप अथवा कोई उच्च अधिकारी आप में कुछ लोप–दोष को देखकर अथवा उसकी कल्पना करके निन्दायें टीका करते हुए आये तो, उसके निमित्त मन में थोड़ा–सा भी घट–बढ़ न आने दें । यदि मेरे अन्दर लोप–दोष है

तो सुधारने के लिए इनके द्वारा वह भगवान् ही सूचना दे रहे हैं, ऐसा समझना चाहिए । लोप–दोष नहीं तो भी जो टीका–टिप्पणी श्रवण में आ रही है, वह वैसा लोप– दोष न आवे, इसके लिए सावधानता बरतने के लिए साधक है ऐसा मानना चाहिए ।

इस रीति से तुरंत ही आपके द्वारा भगवदाराधना रूप में अपने बोधन कार्य को परिवर्तन करने से आप में ईश्वरभावना दृढ़ होगी । हृदय में नये–नये विचार स्फुरित होंगे। आपका उपदेश विद्यार्थियों के ऊपर सत्परिणाम करेगा । आपकी कक्षा देवमंदिर के रूप में परिणत होगी । आपकी कीर्ति बढ़ेगी । इस लोक के समस्त कष्ट उन्नति का साधन बनेंगे । उच्च अधिकारीगण और सहाध्यापक एवं बच्चों के माँ– बाप भी आप में गौरव रखेंगे । वैसा भगवान् अनुग्रह करें ।

***

90–गुरुसेवा का रहस्य (अप्रैल–1951)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपका पत्र पहुँच चुका है । ''मेरे गुरुजी सबसे बड़े हैं, ऐसा मानकर मैं उनकी सेवा में निरत हूँ। गुरुजी से मुझे अध्यात्म विषय का लाभ भी मिलता ही रहता है, किन्तु उनकी वाणी और चर्चा में मुझे कुछ संशय बार–बार उत्पन्न हो रहा है । यह संशय मुझे बाधा न पहुँचावे, इसके लिये मुझे अनुसरण करने योग्य कुछ सूचनाओं का आदेश दीजिए'', सो आपने लिखा है ।

यह तो बहुत गम्भीर विषय है । जो व्यक्ति सद्गुरु सेवा को पूर्ण मन से करके सिद्धि प्राप्त किये हैं, वही केवल इस विषय के बारे में जानकारी दे सकते हैं । इन विषयों को गुरु समीप में स्थित अनुभवी शिष्यों से ही समझना चाहिए, पत्र द्वारा समझना कठिन है । तथापि आपकी कुतूहल निवृत्त्यर्थ एक–दो बात लिखता हूँ । सारग्रहण दृष्टि से उनको उपयोग करें ।

सद्गुरु माने सद्गुरु परमेश्वर के तत्त्व को वाणी और सदाचार के द्वारा समझानेवाला। जो महात्मा सतत् परमात्मतत्त्व में ही निष्ठा रखता है, उसकी वाणी–आचरण से हमको सर्वदा उत्तम आदर्श ही अनवरत् प्राप्त होना चाहिए । परन्तु वहाँ हमें कोई कल्मषबुद्धि उत्पन्न हो रही है तो, या तो वह गुरु ठग होना चाहिए अथवा हमारा पापशेष बलवान हो गया है । गुरुजी में हमारी भक्ति कमजोर पड़ी हो तो सटीक रास्ता कृपया दर्शाओ ऐसी भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिए अथवा उस गुरु से हमको कोई लाभ मिलने वाला नहीं है, ऐसा मन में निश्चय होने पर उनको परित्याग करके दूर सरकना चाहिए ।

सद्गुरु सर्वदा परमेश्वर को ही अपने आत्मरूप में धारण करता है । शास्त्रदृष्टि से वह साक्षात् परमात्मा ही है । तत्त्वजिज्ञासु को उनके देहवाणी इत्यादियों में विद्यमान लोपदोषों को उठाने से अच्छा वह जिसमें सतत निष्ठा रखता है, उस तत्त्व को ही वह है, ऐसा समझना चाहिए । शालिग्राम शिला में छिद्र है तो भी विष्णु के लिए चिह्न ही है न ? इसलिए सद्गुरु को हमेशा भगवान् ही समझना चाहिए ।

गुरु के समीप आप अपने लौकिक व्यवहार सम्बन्धी प्रस्ताव को मत रखिए । सत्य है कि लोक में कुछ न कुछ कष्ट आता ही रहता है, किन्तु वह सब हमारे लिए उत्तम अनुभव प्रदान करके ऊपर उठाने के लिए साधन रूप है । इस कर्ज को कैसे मिटावें ? उस रोग का परिहार क्या है ? यह जो मेरा शत्रु है, उनको कैसे दमन करें ? फलाना आदमी मेरे साथ खराब व्यवहार करता है न ? इत्यादि प्रकार से हम कदापि मन में किट–किट बढ़ाना नहीं चाहिए । परमेश्वर–ध्यान से, सात्विक साधनाओं के बल से इस प्रकार के कष्ट अपने आप मिट जाते हैं ।

आपके गुरुजी ने अनुग्रह बुद्धि से आपको कोई एक कष्ट परिहार बतलाया तो

उसको भगवदनुग्रह समझना चाहिए । कभी उन्होंने धन दिया हो, दवा बताई हो, व्यवहार के लिए उपयुक्त बुद्धिवाद कहा हो तो इनके द्वारा साहूकार, वैद्य, व्यवहारकुशल आदि रूप में न समझें । उनके साहूकारपन के निमित्त, वैद्य ज्योतिषादि जानकारी के हेतु अथवा व्यवहारकुशलता के कारण आप गुरु के शरण में नहीं गये हैं, फिर किसलिए गये हैं ? परमार्थ साधना के लिए ।

सद्गुरु के दर्शन होते ही उनमें प्रकट सभी सात्विक भाव भगवान् की विभूति ही है, वह साक्षात् भगवान् है, ऐसी भावना करिए । उनमें किसी प्रकार की मनुष्यभावना के लिए अवकाश न दीजिए । एक गाँव में एक खंडहर मंदिर था, वहाँ एक दिन कोई पदयात्री आकर समीप में स्थित तालाब में स्नान करके भोजन सिद्ध करना आरम्भ किया । चटनी पीसने के लिए एक गोल पत्थर को ढूँढने लगा तो दैवयोग से एक चिकना पत्थर प्राप्त हुआ । उसके द्वारा सिलबट्टा में मिर्ची पीसते समय उनको यह शिला एक शिवलिंग है क्या ? ऐसा अनुमान हो गया । तत्क्षण उसने उस पत्थर को धोकर परीक्षा की तो वह वास्तव में शिवलिंग ही था । इस लिंग की यहीं प्रतिष्ठा करना है, ऐसा संकल्प करके एक साफ-सुथरी जगह को ढूँढने लगा । बगल में ही पड़े हुए एक लम्बे पत्थर को थोड़ा सरकाया तो उसके नीचे एक छोटा घड़ा निकला । उसमें धन भरा था । उस पथिक ने तुरंत ही उस गाँव के बड़े-बूढ़े लोगों को बुलाकर, उनकी सहायता लेकर शिव प्रतिष्ठा कर ही दी । सद्गुरु में अवस्थित सभी उत्तमगुणों को इसी प्रकार परमात्म साक्षात्कार के लिए उपयोग करना चाहिए । सद्गुरु को व्यवहारार्थ उपयोग करना शिवलिंग को चटनी पीसने का पत्थर समझने के समान है ।

गुरु के सरलस्वभाव को देखकर वह एक साधारण व्यक्ति है, ऐसा समझ के धोखा न खायें । परमेश्वर सृष्टि के कण-कण में विद्यमान रहने पर भी जगत का कलंक उनके किंचिन्मात्र भी स्पर्श नहीं करता है, वैसे ही

महात्मागुरुजी शिष्य के स्तर पर उतरकर सबको आदर देकर उनको उद्धार करते हैं । रत्न कहीं भी रहे, वह रत्न ही होता है, वैसे ही सद्गुरु हमारे स्तर के अनुरूप नीचे आकर व्यवहार करने पर भी हमें उनको सर्वदा पूज्यबुद्धि से ही देखते हुए उनसे अध्यात्म लाभ प्राप्त करना चाहिए ।

गुरुजी के शिष्य भी अनेक हैं न ? उन सबको बड़े भाई या छोटा भाई, बहन मान लीजिए । बड़े शिष्यों को गौरव से देखिए । बड़ा माने आयु से नहीं, मुख्य रूप से गुणों से अध्यात्मलाभ प्राप्त किये हैं, वे आगे रहते हैं । जैसे आप गुरुजी के साथ गौरव बुद्धि से व्यवहार करते हैं, वैसे ही उनके समीप भी गौरवपूर्ण व्यवहार करते हुए साधना विचार और सिद्धान्त विचार का भी विनिमय करना चाहिए । गुरुपदेश, अपनी साधना, गुरु भाईयों के साहचर्य– इन तीनों से भी साधन, वीर्यता को प्राप्त करने में सक्षम होता है। इस पत्र को यहीं समाप्त करता हूँ । अधिक विषय की जानकारी आगामी पत्र में ।

***

91–संन्यासद्वय (मई–1951)

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपके प्रश्न का उत्तर लिखने में मन थोड़ा पीछे हट गया, क्योंकि ''वर्तमान समय में क्या संन्यास स्वीकार कर सकते हैं? संन्यासाश्रम सम्बन्धी धर्मों का समुचित परिपालन कष्टकर है न ? गृहस्थ ही होकर रहने वाले को निवृत्ति धर्म का अनुसरण साध्य है क्या ?'' इन प्रश्नद्वय का एक ही पत्र में उत्तर देना कठिन है । इतना ही नहीं **संन्यास के बारे में प्रश्न पूछना सरल है, उसके यथार्थ को समझने योग्य मन केवल ईश्वरप्रसाद से ही प्राप्य है ।** कैसे भी हो, संन्यास के विषय में गलत अभिप्राय को हटाने मात्र से भी लाभ है, ऐसे प्रतीत होने के नाते इस पत्र में उस विषय को पहले चर्चा करके लिखता हूँ । गृहस्थ के

बारे में एक और पत्र में आप उत्तर की निरीक्षा कर सकते हैं ।

सबसे पहले 'संन्यास को स्वीकार नहीं किया जाता है' इस विषय को मन में पक्का कर लेना चाहिए । संन्यास का अर्थ सर्वकर्मत्याग है, न कि एक कर्म को पकड़ना। परमार्थ संन्यास तो वास्तव में परित्यागरूप भी नहीं, क्योंकि कर्म को परित्याग करना भी एक प्रकार का कर्म है । करना, छोड़ना रूप क्रिया इन्द्रिय और मन से सम्बन्धित है, क्योंकि ये दो प्रकार का करण, बाह्य शब्दस्पर्श इत्यादि को अथवा आन्तरिक सुख दुःखादि को, या तो स्वीकार करते अथवा छोड़ते हुए रहते हैं । किसी भी विषय का परित्याग भी कर्म करने के समान है । कर्म करना अथवा अन्तःकरण बहिःकरण को ही मैं रूप में गलत समझना दोनों समान है । इसलिए किसी भी करण में मैं–मेरा अभिमान रहित ज्ञान से कर्तृत्वबुद्धि को छोड़ने का प्रयास करें । किसी भी क्रिया के बिना ही आत्मा में ही 'मैं हूँ' ऐसी बुद्धि का सम्पादन करें, यही ज्ञान है । यह ज्ञानोदय होने पर 'यह मेरा ज्ञान है' इस रूप में शेष नहीं रहता है, वह आत्मरूप में ही पर्यवसान होता है । इस आत्मरूप में सम्प्रतिष्ठित होना ही **'विद्वत्संन्यास'** कहलाता है ।

ऊपर कहा गया संन्यास, ज्ञान के फलरूप में आने योग्य है । इसलिए तदनुकूल रूप में और एक संन्यास को श्रुति में वर्णन किया गया है, गृहस्थ के लिए विधान किया गया वैदिककर्म–मनुष्यलोक, पितृलोक, देवलोक–इन लोकत्रयों से होने वाले फल के लिए विहित है । इसलिए उनमें आशा न रखने वाले जन और उससे भी उत्तम परमात्म सापुज्य रूप परमपुरूषार्थ प्राप्त करना चाहते हैं, वे भी शास्त्रोक्त रीति से सर्वकर्मपरित्याग करें । इसके पश्चात् परमहंसपारिव्राज्य नाम की स्थिति में रहते हुए यमनियमादि का अनुष्ठान करते हुए सद्गुरु की सेवापूर्वक श्रवण मननः निदिध्यासन् करके आत्मज्ञान का सम्पादन करें। इस प्रकार मुमुक्षुजन द्वारा करने योग्य संन्यास

'विविदिषासंन्यास' नाम से कहलाता है ।

इन दो प्रकार के संन्यास के विवरण को शंकरभगवत्पादजी अपना प्रस्थानत्रयभाष्य में प्रस्थापन किये हैं । विशेष रूप में गीताभाष्य के पाँचवें अध्याय की अवतरणिका द्रष्टव्य है । **ज्ञानार्थ न होने पर भी ब्रह्मलोक में शाश्वतसुख प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले, करने योग्य, यज्ञोपवीतदण्डधारणादिचिह्न सहित दूसरे संन्यास को स्मृतियों में विधान किया गया है । वह आश्रम स्वीकारार्ह है ।** उसके बारे में बृहदारण्यकभाष्य में कहा गया है । क्या इस आश्रमरूप संन्यास को कलियुग में ग्रहण कर सकते हैं ? यह वादग्रस्त है, परन्तु **ज्ञानसम्बद्ध संन्यास को किसी भी स्मृति में निषेध नहीं किया गया है ।** आश्रम संन्यासियों को परलोक सम्बन्धी भोग में विरक्ति होने पर, उन्हें भी परमहंसपारिव्राज्य को ही प्राप्त करना चाहिए । परमहंसों के लिए करणीय या त्यागने योग्य कोई भी कर्म नहीं है और यमनियमों से संयुक्त ज्ञानाभ्यास केवल उनके लिए पहचानमात्र है– इस विषय को पहले ही बतलाया है । इसके लिए जो योग्यता नहीं रखते हैं, उनका भी परमहंस कहलाना कलिप्रभाव का एक चिह्न है । संन्यास के विषय में आपको और कुछ संशय है तो कृपया लिखें ।

***

92–गृहस्थ धर्म

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

जो प्रश्न आपने पत्र के द्वारा पूछे हैं, उसका उत्तर इस पत्र में देना संभव नहीं है । ''गृहस्थ का व्यवहार कैसा होना चाहिए ? किसी भी विषय में 'अब क्या करें' ऐसा संशय होने पर उसका परिहार कैसे करें ? इस प्रकार आपने पूछा है।

मन्वादिस्मृतियों में गृहस्थधर्म के बारे में विस्तार से कहा गया है, परंतु उनके

बारे में सटीक अभिप्राय जानना सामान्य लोगों के लिए कठिन है । सौभाग्य से आप रामायण का पारायण प्रतिदिन करते आ रहे हैं । **ऐसी स्थिति में श्रीरामजी ने किस प्रकार व्यवहार किया ? अथवा ऐसी परिस्थिति में श्रीरामचंद्रजी किस प्रकार आचरण करते थे ? ऐसा आप ही आप प्रश्न पूछिए । तब सभी प्रकार के संकट का उत्तर मिल जायेगा ।**

सर्वप्रथम सत्यधर्मों को कदापि परित्याग न करें । श्रीरामचंद्र धर्मात्मा, सत्यसन्ध हैं– यह वचन रामायण के सम्पूर्ण अर्थ का मूलसूत्र है । द्वितीय विषय यही है कि व्यर्थ आडम्बर, फिजूलखर्च के वशीभूत नहीं होवें । यद्यपि श्रीरामजी राजकुमार थे, अरण्यवास के समय वे किस प्रकार सरल जीवन बिताये, इस बात को पुनः–पुनः स्मरण में लाइये । **ब्रह्मचर्याश्रम में स्थित इन्द्रियनिग्रहादि गृहस्थाश्रम के अनन्तर परित्याग करना चाहिए, ऐसा मत सोचिए ।** श्रीरामजी का एक पत्नीव्रत, सीताराम के बीच विद्यमान परस्परा नूकूल्य को मन में धारण करना चाहिए । शूर्पणखा अत्यन्त सुन्दररूप धारण करके रामचंद्रजी के सामने प्रत्यक्ष होने पर भी उनके मन में चंचलता नहीं आई । तब शूर्पणखा ने क्रोध से अपना निजरूप प्रकट किया । अपनी कामना के लिए बाधारूप सीताजी को खा जाने की धमकी भी दे डाली । तथापि रामजी इस बात से भयभीत भी नहीं हुए और उनकी कामना पूर्ण करने के बारे में सोचे भी नहीं।

श्रीरामजी की नित्यचर्या में दिखने वाले और भी अनेक गुण आपके लिए अनुकरणीय बनना चाहिए। स्वयं अकेले होने पर भी अनेक सहस्त्र राक्षसों का सामना करते हुए निडर रहते हुए धैर्य का परिचय दिया । राक्षसों के आतंक से कष्ट पा रहे ऋषिमुनियों को 'मैं रक्षा करूँगा' इस प्रकार उन्होंने बेहिचक किया गया अभय प्रदान, सुग्रीवादि मित्रों में स्थित स्थिरप्रेम, अहिल्या, गुहा, शबरी इत्यादियों में दर्शायी गयी दया, ये सब आपको लक्ष्य में रखने योग्य धर्म हैं ।

'श्रीरामजी मनुष्य हैं' इस प्रकार समझने पर भी उनमें अवस्थित अनेक गुण आपके मन को आकर्षित करेगा । परन्तु दुष्ट को निग्रह करके, शिष्टों की रक्षा करके, पतितों को पावन करके, भयंकर भूभागों को पवित्र क्षेत्र कहलाकर सम्पूर्ण भारतभूमि धर्मक्षेत्र रूप में परिणमित किया श्रीमहाविष्णु ही रामचंद्रजी हैं, वृद्धजनों के इस विश्वास को मन में बैठाने पर तो उनका आचार-विचार सब वेदतुल्य हो जायेंगे ।

आप और आपकी धर्मपत्नी दोनों, अपने हृदय में श्रीसीताजी और श्रीरामजी दोनों को हृदय में प्रतिष्ठापित करना चाहिए । श्रीरामजी के अनुग्रह से दोनों में धर्मार्थकामों में अव्यभिचरित मधुरबान्धव्य स्थायी रहने की अभिलाषा रखें । घर में श्रीरामचंद्रजी की पूजा, भजन, रामनामजप, इन सबको करते रहिए । उस परमात्मा के प्रसाद से आपकी संसार नौका आराम से आगे बढ़ेगी । इहलोक सुख, परलोक में सद्गति प्राप्त होगी ।

सांसारिक जीवन में अनेक कष्ट परम्परा आ जाना स्वाभाविक है न ? उनको पार करने के लिए अविवेकीजन झूठ, कपट, माया इत्यादि से बना वक्रमार्ग का अनुसरण करते हैं । आप कदापि इन सबको अवकाश न दीजिए

सामान्य रूप में गृहस्थाश्रम में धर्मार्थकाम लक्ष्य होना चाहिए । ईश्वराराधना के द्वारा वैराग्य और मुमुक्षुत्व को सम्पादन करके परमपुरूषार्थ को प्राप्त करूँगा, यह प्रधानलक्ष्य मन में चमकते रहने चाहिए । गृहस्थाश्रम में इस परमपुरूषार्थ साधन को भी परमेश्वर आपके लिए अनुग्रह करे, यही मेरी अभिलाषा है ।

***

93–साधक का लक्ष्य

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

''मैं बचपन से ही गृहत्याग करके दूरदेश जाकर एकान्तसेवन करते हुए अनेक वर्षों से साधना में रत हूँ। थोड़ा कुछ वेदान्तविचार भी किया हूँ, तथापि मेरे मन में अनेक प्रकार के विक्षेप उत्पन्न हो रहे हैं। कुछ दुष्ट लोग मेरे ऊपर बेबुनियाद आरोप लगा रहे हैं। मेरे जाति, आचार आदि के बारे मे दुष्प्रचार कर रहे हैं। इस कारण से मुझे शान्ति नहीं है। ऐसी स्थिति में किस प्रकार आचरण करूँ ?'' यह प्रश्न आप पत्र में बताए हैं।

साधक का लक्ष्य एकमात्र भगवान् है। भगवदाश्रय के बिना किसी को भी कहीं भी शान्ति मिलना असम्भव है। आप यदि वास्तव में एकान्तवास किये हो तो आपको भगवन्नामस्मरण ही प्राप्त होना चाहिए था। आपको सब में परमेश्वर ही दिखना चाहिए था, वैसा नहीं हो रहा है, इसलिए आपके एकान्तवास में कुछ न कुछ कमी रह गयी है, ऐसा कहना पड़ेगा। आप अपने मन की स्वयं परीक्षा करें। परमेश्वर में स्थित होना ही एकान्तवास है, इस बात को कदापि न भूलें।

हम शरीरादि नहीं हैं। हमारी आत्मा भगवान् ही है। हमारे लिये गति भी भगवान् ही हैं, वही हमारे लिए आवश्यक हैं– यही साधना का सार है। जाति, आचार, रूप, वेषभूषा आदि देह से सम्बन्धित है। क्या आपको देहवासना है ? इसलिए तो आप दूसरों के द्वारा किये गये आरोप को इतना महत्व दे रहे हैं। इस विषय के बारे में आपको स्वयं सोचना चाहिए। यदि हमको अपने शरीरादि में दोषबुद्धि उत्पन्न हो तो अच्छा ही है, जाने–अनजाने कोई निन्दा किया तो मैं क्यों उत्तेजित होऊँ ? ऐसा विचार करते रहिए। इससे शरीर, इन्द्रिय, मन, बु।

सबसे पार, सबसे प्रत्यग् परमात्मा में एकान्तवास आपको अवश्य उपलब्ध होगा। श्रीहरि के अनुग्रह से यह साधन आपको उपलब्ध हो ।

***

94–नामस्मरण और व्यवहार

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

आपने दो प्रश्न पूछे हैं, उसमें कोई विशेष समस्या मुझे नहीं दिखती है । ''मुझे कामकाज करने की इच्छा नहीं है । चुपचाप रहने की अपेक्षा है । नाम स्मरण सुलभ मालूम पड़ रहा है । काम करते समय में भी नाम स्मरण की तरफ मन लगता है । एक तरफ नाम स्मरण, दूसरी तरफ कामकाज– ऐसा करना उचित है क्या ? इसके लिए क्या उपाय है ?'' ऐसा आपने पूछा है ।

जिसके अन्दर शरीर में शक्ति, मन में उत्साह है, वे कर्म किये बिना ठहर नहीं सकते। **''अकर्माणो हि तिष्ठन्ति स्थावरा नेतरे जना:''** इस कहावत के अनुसार स्थावर प्राणी को छोड़कर अन्य, उसमें भी मनुष्य को कोई न कोई कर्म किये बिना रहना असम्भव की बात है । पेट के लिए और जीवनावश्यक सामग्री प्राप्त करने के लिए हमको थोड़ा कुछ कामकाज करना ही पड़ेगा न ? शरीर में शक्ति रहते हुए आलस्य के कारण कर्म न करते हुए चुपचाप पड़े रहने से इस लोक में ही रोगादि आकर हमें पाठ पढ़ायेंगे । इसलिए इस विषय में अधिक विचार की आवश्यकता नहीं । अब मन में उत्साह है परन्तु शरीर में वृद्धावस्था, रोगादि कारण से कार्य करना न होने पर भी, दूसरों की सहायता से अथवा उपायान्तर से कामकाज करते रहना स्पष्ट ही है ।

इस संदर्भ में हम कर्म का अर्थ शरीर से होने वाला व्यापार समझे हैं न ? परन्तु इसके अतिरिक्त वाचिक, मानसिक कर्म भी विद्यमान हैं न ? उनमें मानसिक व्यापार के बिना कोई भी बाह्य कामकाज हम कर नहीं सकते । अत:

वास्तव में वही कर्म (मानसिक कर्म) शब्द का अर्थ है, ऐसा निर्णय किया तो गलत नहीं । तब भगवन्नामस्मरण, भगवत्चिन्तन इत्यादि इस अर्थ में कर्म ही बन जाते हैं ।

अब यह एक प्रश्न रह गया कि शारीरिक कार्य करते हुए नाम स्मरण करने से दो भिन्न-भिन्न विरुद्ध कर्म करने के समान होगा न ? इसके लिए क्या परिहार है ? इसके लिए मुझे यही उत्तर समीचीन मालूम होता है कि बाह्य कार्य लौकिक है, आन्तरिक नामस्मरण आध्यात्मिक है, इस प्रकार इन दोनों का भेद जिसने कल्पित किये हैं उनका यह एक विरुद्ध जीवन ही बनेगा, परन्तु बाहर किया जाने वाला कर्म को पृथक् न करके, यह सब परमेश्वर की सेवा के लिए है, इस दृष्टि से कार्य करने वालों को यह कष्ट नहीं आता है । सम्पूर्ण जगत परमेश्वर के शासन के अंतर्गत है । वायु, अग्नि, वर्षा इत्यादि भी उन नियमों का अतिक्रमण नहीं करते हैं । ऐसी उत्तम भावना से जो महापुरूष ओतप्रोत है उनके लिए बाह्य कर्म भी परमेश्वर की अर्चना ही बन जाती है । लोक में हम कोई भी व्यवहार करते हैं, वह सब कोई न एक अनुभव सम्पादन के लिए ही है । वह अनुभव आने पर तदनन्तर कुछ भी कर्म शेष नहीं रहता है, यही अध्यात्मशास्त्र का उपदेश है ।

हम सबका लक्ष्य एक ही है । उसको हम समझें या न समझें, परमेश्वर के अस्तित्व को सर्वत्र अनुभव करना ही हमारे सम्पूर्ण जीवन का सर्वव्यवहार का प्रधान लक्ष्य है । इस विषय को सत्पुरुषों के उपदेश से और सत्संग से भी जिसने जान लिया है उसको यह लौकिक व्यवहार, यह आध्यात्मिक व्यवहार इस प्रकार का कृतक भेद नहीं रह जाता है । उस विवेकी पुरुष द्वारा किये जाने वाले सभी कर्म भगवअर्चना ही है ।

यह सम्पूर्ण विश्व परमेश्वर की महिमा ही है । उसको हम हमारी अल्पप्रज्ञा के कारण अनेक प्रकार से देख रहे हैं । हम यदि शास्त्र एवं सत्पुरुषों की दृष्टि को अवलम्बन करें तो 'प्रपंच को परित्याग करके परमार्थ की ओर मोड़ना'

इस बात के लिए कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है । जब सब कुछ परमेश्वर की दिव्य महिमा ही है तब किसको छोड़ना ? किसको पकड़ना ? ऐसी उत्तम दृष्टि आपको भी उपलब्ध हो, यही मेरी अभिलाषा है ।

***

95–व्यसनों से मुक्ति

लेखक – स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

''बाल्यावस्था की बात है, किसी ने सिगरेट पीकर फेंक दिया था । कुतूहलवश मैंने उसको उठाकर पी लिया। धीरे–धीरे वही अभ्यास बन गया । सिगरेट पीने की लत लग गयी । अब खाँसी उठ रही है । उसके निवारण के लिए धूम्रपान अत्यावश्यक हो गया है। इस आदत को छोड़ने के लिए कई बार प्रयास किया, परन्तु विफल रहा । व्यसन छोड़ने के लिए क्या करना चाहिए ? आपको कोई उपाय मालूम है तो कृपा करके अवगत कराइये'' इस प्रकार आपने लिखा है ।

मेरी आसक्ति अध्यात्म विचार में है, इसलिए इस प्रकार के व्यसनों से मुक्ति पाने का उपाय जैसे डॉक्टरों को सूझता है, वैसे मुझे जल्दी स्फुरण नहीं होता है फिर भी आपके प्रश्न के लिए मैं जो जानता हूँ, उसको ज्यों का त्यों समझाना मेरा कर्त्तव्य है । इसलिए एक–दो वाक्यों को यहाँ लिखता हूँ। प्रयोजनकारी मालूम हुआ तो उपयोग करें।

आपने यह भी लिखा है कि कभी–कभी सिगरेट बंडल खरीदने के लिए भी पैसा नहीं रहता है । धूम्रपान का खर्च कितना है, इसको जरा मन में लाने से आपको लाभकर होगा । बाल्य से लेकर साठ साल आयु तक लगातार धूम्रपान करने के लिए 75000 अथवा इससे भी अधिक रूपये लगते हैं, ऐसा एक गणितज्ञ ने गणित किया है । (वर्तमान में इससे भी कई गुना खर्च अधिक होता

है) । इस बात को मन में बार-बार लाते रहिए।

व्यसनों में पान, सुपारी, तम्बाकू, गुटका, नश्य, धूम्रपान, कॉफी, टी, शराब, ताश, सट्टा, अगम्यागमन इत्यादि प्रसिद्ध हैं । इसको उपयोग नहीं किया तो सिरदर्द होता है या पेट साफ नहीं होता, भोजन पचता नहीं, नींद नहीं आती, उत्साहपन नहीं रहता, कामकाज करने में स्फूर्ति नहीं होती, इत्यादि कारणों को व्यसनी लोग कहते रहते हैं । परन्तु शिरोवेदना, कब्ज, अजीर्ण, निद्रादोष अथवा मन की स्फूर्ति के लिए यह सब कारण है, ऐसा कोई भी वैद्य सलाह नहीं देते हैं इनसे जो सम्बन्ध नहीं रखते हैं, वे उपायान्तर से अपना इष्टार्थ प्राप्त करते हुए देखे जाते हैं । अनिष्टों का निवारण करने में समर्थ भी होते हैं । इसलिए क्या यह सब बहानेबाजी नहीं ? जो बहुत दिनों से इन व्यसनों का दास बन चुका है, उसको वह वस्तु उपलब्ध न होने पर बहुत तड़पने लगता है, परन्तु वास्तव में इसमें सत्यांश कुछ भी नहीं । तम्बाकू आदि को वैद्यजनों के द्वारा कतिपय रोगों के लिए हितमितपरिमाण में चिकित्सारूप में विधान करना देखा जाता है । इस प्रकार के सन्दर्भों को छोड़कर अन्य इनको उपयोग करना अयुक्त है । **ये सब जीवन के लिए अनावश्यक हैं इतना ही नहीं ये सब पूर्ण जीवन के लिए प्रतिबन्धक ही हैं । इस विषय को मन में चिन्तन करते रहना चाहिए । बुरी आदतों को प्रयत्नपूर्वक धीरे-धीरे परित्याग करूँगा । इस प्रकार सोचना भ्रम है । कोई विरले एक-दो व्यक्ति ही इस प्रकार प्रयास करके विजय प्राप्त किये होंगे, परन्तु इनमें दोषों को देखकर तत्क्षण छोड़ देना प्राय: लाभदायक होता है । इन सबसे हमारे हृदय में स्थित परमेश्वर को अपचार होता है, इसको सदा स्मरण में रखें । ये सब अशुचि पदार्थ हैं एवं अशुचिकृत्य और अशुचि तथा अपवित्र भावनाओं को पोषण करते हैं, इस बात को सदा लक्ष्य में रखना चाहिए ।**

इसी प्रकार इन सब विषयों को मन में अधिक बैठाना नहीं चाहिए । एवं

सुभाषितकार ने कहा भी है कि **दो ही व्यसन सेवन योग्य हैं- एक अध्यात्मव्यसन और दूसरा हरिपादसेवनव्यसन ।** इसको परमात्मा का नामस्मरण, परमात्मा का ध्यान, साधु सन्तों के उपदेशों का पठन-पाठन, सज्जनों की संगति, इत्यादि उपायों से अतिशीघ्र से सम्पादित कर लेना चाहिए । जैसे-जैसे सत्संग और सद्भावना की वृद्धि होगी, वैसे-वैसे व्यसनों का याद आ जाना मिटने लगेगा । कभी-कभी वासनाबल से वह अचानक मन में आ सकता है, परन्तु सात्विकज्ञान वैराग्यभक्ति विचारों से परिपूर्ण मन में इन वासनाओं के प्रति लगाव शिथिल हो जाता है । जिस मैदान में भरपूर धूप-हवा उपलब्ध है, वहाँ जहरीले कृमि कीट जीवित रहना असम्भव ही है न ? इसी प्रकार अध्यात्म साधना रूप धूप-हवा जिस अन्तःकरण में प्रचुरमात्रा में उपलब्ध है, वहाँ इन बुरे व्यसनों को मौका ही नहीं मिलता है ।

***

96-विद्यार्थियों के लिए साधन (फरवरी 1947)

लेखक - स्वामी सच्चिदानन्देन्द्रजी

महाशयजी, छोटी आयु में अध्यात्मविद्या के प्रति बुद्धि मुड़ना पुण्य का ही फल है । अभी तुम हाईस्कूल (High School) में ही पढ़ते हुए तत्त्वविचार में मन लगाना शुरू किये हो । यह भविष्य में होने वाले कल्याण का शुभ संकेत ही है । ध्रुव-प्रहलाद आदि भरतखण्ड के बालक कौनसी साधना करके उत्तम भक्त हुए हैं ? इस बात को जानने के कुतूहल से आपके द्वारा लिखित पत्र पढ़कर मुझे आनन्द आ गया है ।

ध्रुव और प्रहलाद के लिए विद्यमानकाल एवं परिवेश सबको प्राप्त होना कष्टकर है । उनके जैसे सब लोग चक्रवर्ती राजा के पुत्ररूप में उत्पन्न नहीं होते हैं । सबको उनके अनुरूप ऋषिजनों के उपदेश भी प्राप्त नहीं होते हैं । उसके विपरीत हमारे जमाने में उपलब्ध विद्याभ्यास में ईश्वरभक्ति के लिए प्रोत्साहन भी

कम है । हम लोगों को गलत रास्ते में खींचने वाले अनेक मनमोहक दृश्य और दुष्ट सहवास विद्यमान हैं । इसलिए एक विद्यार्थी को ऐसे सन्निवेश में किस रीति से आचरण करना पड़ेगा ? परीक्षार्थ अध्ययन योग्य पाठ्यपुस्तकों की राशि बहुत बड़ा बोझा बन गयी है । इसके बीच में अध्यात्म विचार या साधन के लिए अवकाश कैसे प्राप्त होवे ? यही तो तुम्हारे प्रश्न का सार है ।

समय में परिवर्तन हुआ होगा । आसपास की परिस्थिति अनुकूलसी प्रतीत होती होगी । **परन्तु भक्ति के लिए केवल हृदय की आवश्यकता है ।** कोई भी काल हो या कैसी भी परिस्थिति हो हमारे हृदय में योग्य भावना ले आना हमारे हाथ में ही है । अब भी ध्रुव या प्रहलाद की स्थिति तक पहुँचने की आशा रखने वाले बालकों के लिए उसके अनुरूप भावना को हृदय में उत्पन्न करना सम्भव है, मेरे वचनों में तुम्हें विश्वास है तो निम्नलिखित इस साधना क्रम को अभ्यास करके देख सकते हो ।

प्रतिदिन प्रात:काल उठकर भगवद्ध्यान करने की पद्धति अवश्य रखें, इसके लिए अलग एकान्तस्थल या फल-फूल, धूप-दीप सामग्री की आवश्यकता नहीं है । स्नान अथवा मुखप्रक्षालन करके हाथ-पैर धोकर एक जगह में समाहित चित्त से बैठना चाहिए । मन में ऐसी भावना रखें कि उस जगह में वास्तव में परमेश्वर विद्यमान है । जैसे पवन और प्रकाश कमरे में विद्यमान है वैसे ही निश्चय रूप में परमेश्वर का भी अस्तित्व है । दृढ़ विश्वास से इस प्रकार एक बार मन में ही प्रार्थना करें - ''हे भगवान् आप ऐसा अनुग्रह करो कि मैं आज दिनभर आपकी सन्निधि को याद रखूँ । ऐसी कृपा करें कि मेरा आचरण और वाणी आपके प्रिय हो । इन वचनों को जोर से कहने की आवश्यकता नहीं है । परमेश्वर तुम्हारे सामने विद्यमान है, तुम उनसे इस प्रकार कह रहे हो ऐसा मन ही मन भावना करना पर्याप्त है ।

विद्यार्थी जीवन में अध्यात्म साधना के लिए अवकाश नहीं है इस प्रकार

समझना अनुचित है । क्योंकि यदि विद्यार्थी वास्तव में विद्या को चाहता है तो वही एक साधना हो जाती है । स्कूल सम्बन्धी पाठ विषय अधिक होने से भगवत्सम्बन्धी ग्रन्थों के पारायण के लिए समय नहीं मिलता है, ऐसा मत समझो स्कूल के पाठ को ही पारायणग्रन्थ मानो । अंग्रेजी में, हिन्दी में तुम लोगों के लिए रखे हुए पाठ्यग्रन्थों में महापुरुषों के जीवन चरित्र का चित्रण है, किस प्रकार व्यवहार करके अन्यों की अपेक्षा वे ऊँचे स्तर पर पहुँच गये हैं और अन्य की अपेक्षा वे किस प्रकार श्रेष्ठस्तर का जीवन–यापन किये हैं ? इस बात का सतत चिन्तन करते रहना चाहिए । चरित्र (इतिहास) सम्बन्धी ग्रंथों में विद्यमान अनेक नीति मर्मस्पर्शी होती है । सदाचार के द्वारा लोकानुराग प्राप्त करके उन्नतस्थिति तक पहुँचने वाले, दुराचार के द्वारा अतिशीघ्र विजयी हुवे से अन्त में अधःपतन हुए अनेक व्यक्तियों के उदाहरण असंख्य मात्रा में वहाँ प्राप्त होते रहते हैं । इन सब बातों को गम्भीरता से मनन करते रहना चाहिए । पढ़ना, लिखना, गणित, भौतिक विज्ञान इन सभी में आपको जो आनन्द आता है वह आनन्द परमेश्वर से प्राप्त होता है, इस विषय को सदा स्मरण में रखें ।

शरीर सम्बन्धी शुचित्व भी मुख्य है, तुम्हारा जो भी कार्य (वस्त्र प्रक्षालन आदि) है उसको स्वयं ही करना चाहिए । आलसपन के लिए किंचित मात्र भी अवकाश न दें । शरीर ईश्वर का देवालय सा है । उसको सर्वदा शुद्ध रखना चाहिए । हित और परिमित आहार के द्वारा आवश्यकता के अनुरूप व्यायाम के द्वारा शरीर को चुस्त–तंदुरुस्त रखना जरूरी है । साथ–साथ पर्याप्त निद्रा के द्वारा स्फूर्तियुक्त रखना भी कर्त्तव्य है । मन में उत्तम भावना ही आती रहे इसके लिए सर्वदा अध्ययन किये ग्रन्थों का मनन करना, महापुरुषों के भाषण, प्रवचन का श्रवण करना और सदाचार में निरतजनों के सत्संगसेवा आदि को निरन्तर बनाये रखना चाहिए ।

एक और बात है, किसी भी पाठ के अध्ययनके आरम्भ में सबसे पहले

परमेश्वर को मन में बैठाना चाहिए । पाठ समाप्त होते ही पुनः परमेश्वर को प्रणाम करें, लोक में विद्यमान सम्पूर्ण ज्ञानराशि परमेश्वर की ही सम्पत्ति है । इस बात को कभी भी भूलना नहीं चाहिए कि उनके अनुग्रह से ही हमें उत्तम ज्ञान प्राप्त होता है ।

जितना हो सके उतना व्यर्थ वार्तालाप से बचने का प्रयास करें, पढ़ाई करना, पठन सम्बन्धी विषयों को सहपाठियों से चर्चा करना जितना हमें समझ में आया है उतना दूसरों को भी समझाना इस प्रकार का कार्य छोड़कर केवल गप-शप कदापि हमारे मुख से न निकले । यही विद्यार्थियों के लिए मौन है । इस प्रकार का मौन साधना के लिए भी एक उत्तममार्ग है । चाहे कोई भी हो आपको सम्भाषण में लगावें तो वह विद्यार्थियों के लिए आवश्यक है या नहीं इस विषय को ध्यान में रखते हुए उत्तर देना चाहिए । जब अध्ययन के लिए अवकाश नहीं है अथवा व्यर्थ बातचीत के लिए ही मौका मिल रहा हो तब परमेश्वर का नाम जप करते रहने का क्रम विकसित करना चाहिए । राम, कृष्ण, हरि, शिव आदि किसी न किसी एक नाम को कामकाज से विश्राम मिलने पर निरन्तर जपते रहना चाहिए । समीप में लोग वार्तालाप भी कर रहे हों, आपको बोलने का भी मौका नहीं हो तब भी मन ही मन इस नाम जप को जारी रखें । क्रीड़ाकाल में भी यह जप कार्य करना संभव है। इसको तुम अभ्यास करके देखो जप के साथ-साथ कामकाज भी सुचारू रूप से चलने लगेगा ।

प्रतिदिन सायंकाल पाठ का चिन्तन करके रात को सोने के पूर्व में प्रातःकाल की भांति फिर एक बार परमेश्वर का चिन्तन करें। '''हे परमेश्वर आज के दिन आपके संकल्प के विरुद्ध मैंने जो कुछ भी किया हो, उन सबको क्षमा करो। कल से ऐसा अपराध न हो या बहुत कम हो जावे इस प्रकार अनुग्रह करो'' ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए। परमेश्वर के चिन्तनपूर्वक हमारा व्यवहार समाप्त करने से सुखनिद्रा अवश्य आजाती है।

विद्यार्थी होने के नाते अध्यात्म चिन्तन के लिए अवकाश नहीं है, ऐसा कहने वाले 'मैं प्रतिदिन कितना व्यर्थ कालहरण कर रहा हूँ, आज के दिन कितनी देर तक न करने योग्य कार्य करता रहा? कितना समय तक व्यर्थ गप मारते रहा? इस विषय को स्वयं आप ही आप परीक्षा करके देखना अच्छा है। तब बड़ों के समान बालकों को भी अध्यात्म साधना के लिए पर्याप्त समय उपलब्ध होना सम्भव है यह बात स्पष्ट हो जायगी।

विद्यार्थी

जो विद्या को ही चाहता है वह विद्यार्थी है । अर्थात् विद्या की ही इच्छा रखने वाला । **विद्या माने सम्यक्ज्ञान** । मेरा अज्ञान चला जावे, मुझे ज्ञान का प्रकाश मिल जावे, अब मैं कदापि अंधकार में नहीं रहूँगा, इस प्रकार जो निश्चय किया है वह विद्यार्थी है ।

विद्या क्यों चाहिए ? यदि विद्या अन्य प्राप्ति के लिए चाहिए जैसे धन के लिए, जीवन के लिए, कीर्ति के लिए या लोगों में सम्मान प्राप्त करने के लिए तो वह विद्यार्थी नहीं है । धन चाहने वाला धनार्थी है, जीवन चाहने वाला जीवनार्थी है, कीर्ति की इच्छा रखने वाला कीर्त्यर्थी, सम्मान की आकांक्षा रखने वाला पूजार्थी है । परन्तु जो विद्या को विद्याके लिए ही चाहता हो वह विद्यार्थी है ।

इस बात को पहले ही बतला चुके हैं कि विद्या माने ज्ञान । जिसका ज्ञान उदय होते ही हृदय में प्रकाश उत्पन्न होता हो अन्धकार में ठोकर खाते हुए गिरते–उठते चलना, अज्ञान के तुषार (कोहरा) में, 'ऐसा हो गया हो, वैसा हो गया हो' इस प्रकार कल्पना, प्रपंच में लड़खड़ाना समाप्त होकर दिन में सही रास्ता में चलने वालों के समान जिस विद्यासे मन में उत्साह, उल्लास, धैर्य, लोगों में परस्पर मैत्री की वृद्धि हो रही हो वही विद्या है उस विद्या को चाहने वाला ही विद्यार्थी है।

******** ओम् तत् सत् ********

शुद्धि पत्रक

क्र.	पृष्ठ संख्या	पंक्ति		
1			गुरुशुश्रुषा	गुरुसुक्षुषा
2	2	ऊपर से 5	अवश्य	आवश्यक
3	2	नीचे से 6	सोचनीय	शोचनीय
4	3	नीचे से 2	आप	आपने
5	3	नीचे से 2	किये	की
6	4	ऊपर से 3	हमारे	हमारी
7	4	ऊपर से 5	सम्बन्धित	सम्बद्ध
8	4	ऊपर से 6	शुद्धि	शुद्ध
9	4	ऊपर से 12	लगानारूप	लगाने के
10	5	ऊपर से 8	उपासन	उपासना
11	6	ऊपर से 7	ऐसी स्मृति	ऐसा स्मृति में है
12	7	अंतिम पंक्ति	दर्शन करना रूप	दर्शन करना ही
13	9	प्रथम पंक्ति	करनारूप	करने का
14	9	ऊपर से 12	अध्ययनरूप	अध्ययन के रूप में
15	9	ऊपर से 15	अगणित मात्रा	अगणित संख्या
16	9	ऊपर से 7 व 8	करनारूप	करने का
17	11	नीचे से 10	विध्युक्त	विधियुक्त
18	11	अंतिम पंक्ति	नरकभाज	नरकभाजन
19	12	ऊपर से 7	अवश्य	आवश्यक
20	13	नीचे से 11	मनपूर्वक	मनःपूर्वक
21	13	नीचे से 9	दोनों को मात्र	दोनों मात्र को
22	14	नीचे से 3	परभक्ति	पराभक्ति
23	15	ऊपर से 3	आपके	आपको
24	15	नीचे से 8	उपन्यास	उप-न्यास
25	17	ऊपर से 7	साधकजन	साधकजन द्वारा
26	24	नीचे से 12	बहुशः	संभवतः
27	29	ऊपर से 6	विषय को	विषय से
28	35	अंतिम पंक्ति	उनके-उनके	अपने-अपने
29	36	ऊपर से 2	अत्याशा	महत्वाकांक्षा
30	39	ऊपर से 7	आराधन	आराधन रूप
31	41	नीचे से 9	अननुगुण	प्रतिकूल
32	47	नीचे 4	न	'न' की आवश्यकता नहीं है।
33	48	ऊपर से 7	अनुगुण	अनुरूप
34	48	नीचे से 6	फूलों की जीवनी रहती	फूलों का जीवन रहता
35	52	प्रथम पंक्ति	अनुगुण्य	अनुकूलता
36	52	ऊपर से 3	चारस्य	चारित्र्य
37	53	नीचे से 2	पुरूषार्थ साध	साधने
38	55	ऊपर से 3	प्राशस्त्य	प्रशस्तता
39	56	नीचे से 3	से दूर करके	से दूर होकर
40	56	अंतिम पंक्ति	अभिमानरूप	अभिमान ही
41	113	ऊपर से 4	16 दृष्टि	दृष्टि
42	135	ऊपर से 2	आपताकाल	आपातकाल
43	191	नीचे से 4	भगवअर्चना	भगवदर्चना

लोकवार्ता में मन न लगाते हुए नित्य अपने मन की प्रसन्नता के अनुरूप भगवच्चिन्तन में ही जो निरत है, उसको निष्क्रियात्मा में स्थिरतारूप परमार्थसंन्यास अवश्य उपलब्ध होता है। उस महान पुरुष के स्तर तक केवल वेषधारी संन्यासी कदापि नहीं पहुँच सकते हैं।

यह सम्पूर्ण विश्व परमेश्वर की महिमा ही है। उसको हम हमारी अल्पप्रज्ञा के कारण अनेक प्रकार से देख रहे हैं। हम यदि शास्त्र एवं सत्पुरुषों की दृष्टि को अवलम्बन करें तो 'प्रपंच को परित्याग करके परमार्थ की ओर मोड़ना' इस बात के लिए कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। जब सबकुछ परमेश्वर की दिव्य महिमा ही है तब किसको छोड़ना? किसको पकड़ना? ऐसी उत्तमदृष्टि आपको भी उपलब्ध हो, यही मेरी अभिलाषा है।